महामहोपाध्याय

डॉ० सर गङ्गानाथ झा



लेखक

किशोरनाथ झा

महामहोपाध्याय

डॉ० सर गङ्गानाथ झा



लेखक

किशोरनाथ झा

Ganganatha Jha Campus Text Series No. 75

Mahamahopadhyaya Dr. Sir Ganganath Jha

General Editor

Prof. Shail Kumari Mishra

Writer

Dr. Kishor Nath Jha



Rashtriya Sanskrit Sansthan
(Deemed University)
Ganganath Jha Campus
Azad Park, Allahabad
2015

Published by
Principal
Rashtriya Sanskrit Sansthan
(Deemed University)
Ganganath Jha Campus
C.S. Azad Park
Allahabad - 211 002

Edition : First 2015 AD

Price : 225/-

Printed by
Academy Press
Daraganj, Allahabad - 211006

गङ्गानाथझापरिसरग्रन्थमाला ७५तमं प्रसूनम्

महामहोपाध्याय डॉ० सर गङ्गानाथ झा

प्रधान सम्पादक

प्रो. शैलकुमारी मिश्र

लेखक

किशोरनाथ झा



राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

गङ्गानाथ झा परिसर

चन्द्रशेखर आजाद पार्क, इलाहाबाद

२०१५

प्रकाशक :

प्राचार्य

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान

गङ्गानाथ झा परिसर

चन्द्रशेखर आजाद पार्क, इलाहाबाद – २११००२

प्रकाशनवर्ष : २०१५

मूल्य : २२५/-

मुद्रक :

एकेडमी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद

समर्पणम्

वाग्देवीवरविश्रुतस्य विदुषां रत्नस्य बन्धोः सताम्
सौजन्याञ्चितचेतसः सुकृतिनां मान्यस्य मेधावतः।
प्राप्तोच्चैः पदगौरवस्य गुणिनो गेयस्य सद्भिर्मुदा
श्रीमद्राधावल्लभस्य करयोः प्रीत्यार्पितेयं कृतिः।।

समर्पकः

वसन्तपञ्चमी २५।१।२०१५ ई. झोपाह्वः किशोरनाथः



महामहोपाध्याय डॉ० सर गङ्गानाथ झा

आविर्भाव :२५ सितम्बर १८७१ ई. निर्वाण : १७ नवम्बर, १९४१ ई०

शुभासंशा

महामहोपाध्याय डॉ. सर गङ्गानाथ झा का नाम समग्र संस्कृत जगत् में बड़े आदर के साथ लिया जाता है। इसके मूल में उनकी अकुण्ठ वैदुषी एवं पाण्डिती थी। आप मीमांसा दर्शन के उत्कृष्ट विद्वान् थे। भारतीय एवं पाश्चात्त्य दर्शन की विविध शाखाओं में आप निष्णात थे। वेद-वाङ्मय, साहित्य एवं साहित्यशास्त्र में भी आपका गहन, गम्भीर ज्ञान था। इसका प्रमाण आपके द्वारा लिखित बहुविषयक ग्रन्थ हैं। आपकी सोच नितान्त मौलिक थी। आपके लेखों में आपकी मौलिक समझ के दर्शन होते हैं।

अंग्रेजी शासनकाल में समादृत होने वाले भारतीय विद्वानों में आप अग्रगण्य थे। संस्कृत विद्वानों की परम्परा में आपका विशिष्ट स्थान है। महामहोपाध्याय डॉ. सर गङ्गानाथ झा ने अनेक संस्थाओं में सेवायें दी थीं। मिथिला से चलकर सारे विश्व में सारस्वत यात्रा करने वाले आपके ज्ञान से तत्कालीन युग के विद्यार्थी एवं शोधार्थी उपकृत हुये थे। मैथिली, संस्कृत, अंग्रेजी एवं अन्यान्य भाषाओं में आपका असाधारण अधिकार था। आपने शिक्षा जगत् के सर्वोच्च पद कुलपति पद को अलङ्कृत किया था।

महामहोपाध्याय सर डॉ. गङ्गानाथ झा के सम्पूर्ण जीवन परिचय एवं सारस्वत परिचय को इस पुस्तक के आलोक में देखा जा सकता है। इस पुस्तक के लेखन में विद्वद्वरेण्य सम्माननीय डॉ. किशोरनाथ झा जी ने बहुत परिश्रम किया है तथा एक प्रामाणिक जानकारी प्रस्तुत की है। मैं इस पुस्तक के लेखन के लिए डॉ. किशोरनाथ झा जी को बहुत साधुवाद देती हूँ तथा इस पुस्तक के प्रति अपनी शुभासंशा व्यक्त करती हूँ।

प्रो. शैलकुमारी मिश्र
प्राचार्य (का.)

□□

ओं नमस्तारायै

प्राक्कथन

भगवती जगदम्बा के अनुग्रह तथा प्रसाद से चिर अभिलषित यह विनिबन्ध आज पूरा कर सका – इसकी हार्दिक प्रसन्नता एवं मनस्तुष्टि है।

दार्शनिक महाकवि श्री हर्ष ने नैषधीय चरित महाकाव्य में कहा है कि वस्तु में अद्भुत गुण देखकर यदि कोई मौन रह जाए तो उसकी वाणी की विफलता मानी जाएगी और उसके मन में एक प्रकार की कसक रह जाएगी।

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद्भुते वस्तुनि मौनिता चेत्।

सौभाग्य से डा० सर गंगानाथ झा के नाम पर स्थापित इलाहाबाद के शोधसंस्थान में मुझे स्थायी जिविका मिली। मैनस्क्रिप्ट पण्डित, अध्यापक ग्रेड में रिसर्च ऑफिसर तथा रीडर पद यथाक्रम मिलता गया और बत्तिस वर्षों तक (१९७० से २००२ तक) दुर्लभ, अप्रकाशित तथा उपादेय हस्तलेखों का संपादन–प्रकाशन, अनुसन्धानरत शोधप्राज्ञों का मार्गदर्शन तथा हस्तलेखों का संग्रह एवं उसका मूल्याङ्कन क़ा काम मनोयोग से करता रहा। इसी सबके लिए मुझे नियोग भी मिला था। महाकालसंहिता, न्यायतत्त्वालोक, गौतमीय सूत्र प्रकाश तथा तन्त्रवार्त्तिक की परितोषमिश्र कृत व्याख्या अजिता आदि मेरे संपादन के प्रकाशित होने पर विद्यापीठ को पूर्ण प्रतिष्ठा मिली। मुझ जैसे अकिञ्चन को भी विद्यापीठ की सेवा से सारस्वत जगत् में आशातीत सम्मान मिला तथा बच्चों की अच्छी शिक्षा दीक्षा के साथ कुटुम्ब भरण का सुयोग मिला। मैं न्याय का विद्यार्थी होने के कारण सामग्री कारणतावाद में विश्वास करता हूँ। अत एव पूर्वजन्मार्जित पुण्य का फलस्वरूप अदृष्ट, गुरुजनों के साथ

पितामह स्थानीय डा० सर झा का दिव्य भव्य आशीर्वाद तथा प्रयागवास के कारण किया गया यहाँ की दुर्लभा गंगा में आपेक्षिक अधिक अवगाहन के सुफल को मैं इसका कारण मानता हूँ।

यह संस्था भारत सरकार द्वारा अधिगृहीत होकर पहले राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली का अङ्गीभूत हुई और गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ नाम से बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में प्रतिष्ठित हुई। पुनः इक्कीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही २००२ ई० में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के मानित विश्वविद्यालय के रूप में प्रतिष्ठित होने पर उसी की अंगीभूत संस्था होकर गंगानाथ झा परिसर के रूप में आजकल प्रसिद्ध है।

इस संस्था में मैं जिन कार्यों के लिए नियुक्त था उसको ईमानदारी से पूरा करता हुआ कुछ समय बचाकर डा० सर झा की उपलब्ध कृतियों का रुचि के अनुसार अध्ययन अवलोकन करता रहा। उसी समय से डा० सर झा के प्रसंग में अपनी दृष्टि से यथाज्ञात चिन्तनों को अभिव्यक्त करने की लालसा थी। जो विविध सारस्वत कार्यों में संलग्नता के कारण बहुत विलम्ब से आज पूरी हुई।

वृद्धजनों से श्रुत है कि महाविभूतियों के गुण कीर्तन से पुण्यार्जन होता है। कविकुल गुरु कालिदास ने रघुवंश में कहा है कि पूज्यजन की पूजा में व्यतिक्रम होने पर आत्मकल्याण में बाधा होती है।

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।

इसी से सिद्ध होता है कि पूज्यजन की पूजा से आत्मकल्याण अभ्युदय होता है। अतः आत्मश्रेयस्काम से मैं भी डा० सर झा की इस वाङ्मयी पूजा के लिए प्रवृत्त हुआ हूँ। मेरी दृढ़ धारणा है कि इस वाङ्मयी पूजा से मेरी बुद्धि शुद्धि अवश्य होगी। भामती में वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि आचार्य की कृतियों के समावेश रहने से अवधूत (अटपटी) भी मेरी वाणी पवित्र हो जाएगी। जैसे वर्षा के समय में रास्ता का जल भी गंगा के प्रवाह में गिरकर पवित्र हो जाता है।

आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम्।
रथ्योदकमिव गंगाप्रवाहपातः पवित्रयति।।

इसी प्रकार वाङ्मयी पूजा स्वरूप इस विनिबन्ध में डा० सर झा के चिन्तन रहने के कारण मेरी भी बुद्धि और वाणी अवश्य पवित्र होगी।

डा० सर झा ही ऐसा व्यक्ति हुए, जिन्हें वैदुष्य के लिए 'महामहोपाध्याय' पदवी और इस वैदुष्य की विश्व में ख्याति के लिए 'सर' उपाधि तात्कालिक भारत शासन ने दिया था– यह बात डॉ० सर झा के भगिनीपुत्र (भाञ्जा) आचार्य रमानाथ झा ने कही है, जो सर्वथा यथार्थ है। सर आशुतोष तथा सर यदुनाथ महामहोपाध्याय नहीं थे और महामहोपाध्याय गङ्गाधर शास्त्री, शिवकुमार शास्त्री जयदेव मिश्र तथा चित्रधर मिश्र डा० सर झा के गुरु 'सर' नहीं थे, यह तो स्पष्ट है।

डा० सर झा के द्वितीय पुत्र पद्मविभूषण अमरनाथ झा ने पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेस के मुखबन्ध में कहा है कि इन्होंने जबसे होश संभाला कभी भी पिता का हाथ बिना पुस्तक या बिना लेखनी का नहीं देखा। तथा कुलपति रहते हुए भी पिताजी आइ.ए., बी.ए. तथा एम.ए. के छात्रों के दो दो कक्षाओं में पढ़ाते रहे। इस प्रकार शिक्षक के दायित्व को इन्होंने प्राथमिकता दी, सर्वोपरि माना।

मेरी बाबी दूर से मेरी मातामही की भाभी डा० सर झा की तृतीय और चतुर्थ पुत्री (सेवी एवं सीता देवी) ने बातचीत में मुझसे एक बार कहा था कि पिता से उनको एक ही सीख मिली थी कि कभी भी किसी बात का जीवन में अभिमान नहीं करना।

डा० सर झा के समय में भारत स्वाधीन नहीं था। अंग्रेजों का शासन था। रूढ़िवादी समाज यदृच्छालाभ से सन्तुष्ट रहता हुआ जीवन यापन करता था। साधारण जनता में पौरोहित्य तथा कथावाचन आदि का बहुत प्रचार था। धर्माचरण रूप कर्मकाण्ड के पालन में निष्ठावान् साधारण जनता भागवत, देवी भागवत तथा रामायण की कथा श्रवण अवश्य करती थी। शास्त्रों के अध्ययन–अध्यापन से विद्वद्वृन्द का समय–यापन होता था। उस समय के छात्र पारम्परिक पद्धति से शास्त्रों का अध्ययन कर उसमें तलप्रवेशिता का लाभ करते थे, उनमें पल्लव ग्राहिता नहीं थी। गंभीर तथा विशाल शास्त्र को अधिगत करना अपना धर्म समझते थे। इन्हीं के समय में अर्थात् बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में

मिथिला में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार आरंभ हुआ था। सुनते हैं कि इनके ही अग्रज सोदर शिवभक्त पण्डित विन्ध्यनाथ झा प्रथम मैथिल स्नातक (बी.ए.) उत्तीर्ण हुए थे। युगद्रष्टा मिथिलेश लक्ष्मीश्वर सिंह इन सभी भाइयों के अभिभावक थे। उन्होंने इन लोगों को अंग्रेजी पद्धति से शिक्षा दिलाकर एक प्रकार से विश्व का कल्याण किया। अन्यथा संपूर्ण विश्व में भारतीय विद्या का प्रचार-प्रसार प्रामाणिक रूप से इतना शीघ्र नहीं हो पाता। डा० सर झा ने भारतीय दर्शनों के विशेषरूप से मीमांसा के साथ अलङ्कारशास्त्र का अंग्रेजी अनुवाद कर विश्व में प्रचार किया। इनमें पारम्परिक पद्धति से शास्त्रों की अवगति के साथ आलोचना बुद्धि विद्यमान थी। इनके समय में मिथिला में न्याय, मीमांसा, व्याकरण, ज्योतिष तथा धर्मशास्त्र के साथ अलङ्कार का गंभीर अध्ययन-अध्यापन टोल विद्यालयों में प्रचलित था। विद्वद्जन तथा जिज्ञासु ग्रन्थों का पंक्त्यर्थ तो जानते थे किन्तु किसने, कब, क्यों, क्या किसलिए कहा – इस प्रकार की आलोचना बुद्धि नहीं थी। डा० सर झा का स्वभाव उदार था विचार निर्मल था।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।। का व्यावहारिक पक्ष ज्ञात कर अपने जीवन में अपने आचार विचार में समाहित किया था। मिथिला में शैलूषवृत्ति-अभिनय करना – निन्द्य समझकर समाज में प्रचलित नहीं था। यह नटों का कार्य माना जाता था। किन्तु डा० सर झा को ज्ञात था कि आचार्य भरत की दृष्टि में नाटक करके दिखाना शान्त भाव से चाक्षुषयज्ञ है। **शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्।** तथा भिन्न भिन्न रुचि के लोगों के लिए एक ही प्रकार का यह अच्छा आराधन है।

नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।

डॉ० सर झा नाटक को कला प्रदर्शन समझते थे शान्त चाक्षुष क्रतु समझते थे अत एव वसन्त पञ्चमी के दिन सरस्वती पूजा के अवसर पर अपने घर पर अपने बच्चों तथा शिष्यों से नाटक का निष्पादन करवाते थे। रथयात्रा के अवसर पर ग्रीष्मावकाश में गाँव में रहने के कारण इनके पाँचों सुपुत्र वेणीसंहार के अश्वत्थामा अंक (तृतीय अंक) का सात्त्विक एवं वाचिक अभिनय करके रथयात्रा में समागत परिसर के सामाजिकों का मन मोह लेते

रहे। इन बच्चों का अभिनय देखकर सुनकर समाज इनका गुण मुग्ध होकर प्रशंसा किये बिना नहीं रहता। इन सब भाइयों का परिधान लाल धोती, पीले रंग का रेशम का चादर जनेउ के आकृति में लपेटा हुआ तथा खुला हुआ वदन देखकर जनता मुग्ध होती रहती थी। आजकल नुक्कड़ नाटक का प्रचलन देखा जा रहा है। आज से ७०-८० वर्ष पहले ही डा० सर झा के सुपुत्रों ने वह करके दिखा दिया है। बनारस के क्वीन्स कॉलेज में जब डा० सर झा प्रिन्सिपल थे तब मेरे पितृचरण उस कॉलेज के छात्र हुआ करते थे। उन्होंने कथा प्रसङ्गेन कहा था कि एक बार डा० सर झा के चतुर्थ पुत्र विभूतिनाथ झा आहार्य वेश भूषा ऐसा बना लिया था कि वाचिक सात्त्विक अभिनय के अवसर पर अपने घर पर आयोजित नाटक में भी डा० सर झा उनको पहचान नहीं पाये थे। पण्डित ताराचरण भट्टाचार्य उस कॉलेज के साहित्यशास्त्राध्यापक जब इनके घर पर आयोजित नाटक में 'असुखं सुखयति पिब मदिराम्' गाने लगे तो उनके अग्रज सोदर म०म० वामाचरण भट्टाचार्य तथा म०म० फणिभूषण तर्कवागीश आदि अपने अपने शुष्क शास्त्र न्याय के दिग्गज विद्वद्गण 'होलो होलो' कहते हुए अपनी प्रसन्नता व्यक्त करने लगे थे।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में सरस्वती पूजा के अवसर पर इनके द्वारा चलाया हुआ नाटक अभियान पाँच पुस्त तक परम्परा क्रम से चलता रहा। प्रो. क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, डा० सर झा के प्रिय शिष्य, इनके शिष्य प्रो. चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, इनके शिष्य राष्ट्रपति सम्मानित कविकुल चूड़ामणि डा० राजेन्द्रमिश्र तथा इनके शिष्य आदि विभाग की ओर से संस्कृत नाटकों का आयोजन करते रहे हैं। गंगानाथ झा शोध संस्थान, इलाहाबाद के रजतजयन्ती के अवसर पर १९६९ ई० में प्रो. चण्डिका प्रसाद शुक्ल तथा प्रो. श्रीराम सिन्हा के निर्देशन में भगवदज्जुकीयम् के अभिनय की सफलता बहुत दिनों तक चर्चित रही। पश्चात् प्रतिवर्ष इस विद्यापीठ में कर्मचारी, अध्यापक तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के छात्रों को जुटाकर डा० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल, डा० श्रीराम सिन्हा आदि संस्कृत नाटक करवाते रहे हैं और सामाजिक उत्सुकता से देखने आते थे।

डॉ० सर झा के गाँव में भी इनके पुत्र, भतीजा, पौत्र तथा आप्त सम्बन्धी मिल कर दुर्गापूजा के अवसर पर या अन्य उत्सव के अवसर पर अभिनय

करते रहे हैं। डा० सर झा के विचार में औदार्य का यह भी एक बानगी है। इसकी अच्छी परिणति यह हुई कि गाँव के परिसर में स्थापित एम.एल.एस. कॉलेज के आरम्भिक स्थिति में अर्थसङ्कट के निराकरण हेतु टिकट पर अभिनय करके अर्थसंग्रह अनेक वर्षों तक होता रहा। एक बार कविशेखर बदरीनाथ झा ने वयोवृद्ध रहने पर भी कॉलेज हेतु आयोजित नाटक के उद्घाटन के अवसर पर कहा था कि यहाँ का प्रबुद्ध समाज शैलूषवृत्ति से (अभिनय से) भी महाविद्यालय हेतु अर्थ साहाय्य कर अच्छा कार्य कर रहा है। अच्छे कार्य हेतु पवित्र उद्देश्य के लिए निन्द्य उपाय भी वचनीय नहीं होता है।

इसी तरह एक बार बीसवीं शताब्दी के चालीस के दशक में मिथिलेश महाराजा कामेश्वर सिंह के विलायत जाने पर धर्मप्राण मैथिल समाज मिथिला से भागकर हिन्दूराज्य नेपाल जाकर बसने लगा था। स्वदेशी विलायती का आन्दोलन चला। यद्यपि महाराजा कलिव्यर्ज्य समुद्र यात्राजन्य पाप का प्रायश्चित्त किया तथापि वह आन्दोलन शान्त नहीं हुआ, प्रत्युत कुछ दिनों तक गहराता रहा। डा० सर झा ने महाराजा का पक्ष लिया और ये विलायती हो गये। इसमें धर्मशास्त्रीय युक्तियाँ इन्होंने प्रस्तुत की। यह इनके वैचारिक-औदार्य की दूसरी बानगी है। अवधेय है कि समुद्रयात्रा कलिकाल में वर्ज्य है किन्तु विमान से यात्रा करके विदेश जाना निषिद्ध नहीं है। अत एव अब विदेश जाना पापाचरण नहीं कहला सकता है।

मुझे इस विनिबन्ध लिखने में डा० सर झा की स्वलिखित आत्मकथा तथा उनकी कृतियों से सहायता मिली है। यहाँ वही मेरा प्रमुख रूप से सम्बल रहा है।

एक बार २०११ ई० के अक्टूबर में संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा वहीं स्थापित डा० गंगानाथ झा पीठ की ओर से सुहृद्वर प्रो. श्री हरिदत्त शर्मा ने मुझे आमन्त्रित किया था मैं सोत्साह उसकी तैयारी में जुट भी गया था किन्तु जगदम्बा को यह स्वीकार नहीं था। उस समय में ऐन मौके पर भयङ्कर रोगाक्रान्त होकर मैं उत्कट कष्ट प्राप्त किया। मरणासन्न स्थिति उस अवधि में हो गयी थी। चिकित्सार्थ दिल्ली जाना पड़ा। फलतः उस भाषण हेतु मैं इलाहाबाद नहीं पहुँच सका। शायद इस विनिबन्ध को लिखने में

वह घटना भी उत्तेजक हो गयी हो। वचन देकर उस सभा में नहीं उपस्थित होना रूप पाप का संभव है यह प्रायश्चित्त स्वरूप हो।

मुझे विश्वास है कि इस विनिबन्ध से साधारण पाठक को डॉ० सर झा का तथा उनके वैदुष्य का यत्किञ्चित् परिचय अवश्य प्राप्त होगा। इस महान् विभूति के विषय में अनेक सुधियों ने अपनी दृष्टि से ग्रन्थ लिखा है। सुधी समाज में वे सब समादृत भी हुए हैं। मेरा भी यह तुच्छ प्रयास आत्मबुद्धि शुद्धि के लिए हुआ है। जिज्ञासु पाठकों के लिए यदि रुचिकर होगा, संतुष्टि होगी तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

मेरी भी अपनी दृष्टि है अपनी सीमा है। मेरी अज्ञानता, अनवधानता भी इसमें अवश्य समाहित है। प्रत्येक आरम्भ दोषपूर्ण होता ही है आग भी धुआँ से ढक जाता है अतः सहृदय पाठकों से मेरा निवेदन है कि अनुग्रह पूर्वक मित्र की दृष्टि से प्रसन्नता से इसका अवलोकन करें। असूया रहित होकर सज्जनवृन्द अपने प्रणयी की वाणी का ग्रहण करते हैं। रास्ते पर चलते समय प्रमादवश गिर जाना स्वाभाविक है। दुर्जन गिरते हुए पथिक पर हँसते हैं और सज्जन उसको उठाकर सान्त्वना देते हैं –

तद्विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः।
सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः।।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः।।

(श्लोकवार्त्तिक)

मेरे अजस्र आशीर्वाद का भाजन हैं सौभाग्यवती श्रीमती शैलकुमारी मिश्र जो आज गंगानाथ झा परिसर, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान (मानित विश्वविद्यालय) की प्राचार्या हैं। इन्होंने इस विनिबन्ध की प्रकाशन की व्यवस्था कर मुझे अनुगृहीत किया है। यह मेरे गुरुकल्प अग्रज प्रो. मुरलीधर पाण्डेय की लड़की होने से मेरी भतीजी हैं। अत एव इनके ऊपर मेरा अधिकार भी है। पुत्रोपम वात्सल्य भाजन सुहृद् डा० ललितकुमार त्रिपाठी, डा० बनमाली बिश्वाल, डा० विश्वम्भरनाथ गिरि (उक्त परिसर के आचार्य) के सहयोग साहाय्य के बिना मेरा एक भी सारस्वत अनुष्ठान पूरा नहीं हुआ। अतः इनका मैं सतत

आशीर्वादक रहा हूँ। मुझ अकिञ्चन से और अधिक क्या संभव है। निरतिशय प्रीतिभाजन चि० श्री ब्रह्मानन्द मिश्र जी को तथा प्रेस व्यवस्थापक को जिन्होंने इस ग्रन्थ को कम्पोज किया है एवं मुद्रण किया है, वयोवृद्ध होने से भी शुभाशीर्वाद देता हूँ।

सुधीजनों का आश्रव

किशोरनाथ झा

ग्रा० बिट्ठो, पो० सरिसब पाही, जिला मधुबनी

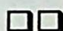
पिन ८४७४२४ (बिहार),

बसन्त पञ्चमी,

२५।१।२०१५



विषयानुक्रमणी



जन्म एवं अभिजन

श्रीमदिष्टदेवतायै नमः

पुण्यश्लोक विद्यासागर गंगानाथ झा सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न थे। निष्ठापूर्वक कर्तव्य का पालन, कार्य करने का कौशल, भारतीय विद्या के प्रति नैसर्गिक अनुराग रहने के कारण उसके अर्जन में निरन्तर संलग्नता, आस्तिकता, परम्परागत कौलिक सदाचार का तत्परता के साथ प्रतिपालन, अनुशासन के संरक्षण तथा संकल्प की दृढ़ता के कारण जीवन में चरम शिखर पर आरूढ़ हुए। सारस्वत उपासना के बल पर सम्पूर्ण विश्व में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से इन्होंने भारतीय विद्याओं का विशेषरूप से दर्शन एवं साहित्य का प्रचार प्रसार कर उज्ज्वल कीर्ति तथा प्रभूत ख्याति अर्जित की। विद्या का उपयोग चार प्रकारों से होता है – पढ़ना, पठित विद्या का मनन (स्वाध्याय) करना, पढ़ाना तथा व्यवहार में लाना। विद्या सागर डॉ० झा ने इन चारों में दक्षता अर्जित की थी। आगे ये विषय सब स्वयं विश्लेषित विवृत होने पर अधिगत होंगे।

विश्वास पूर्वक बिना प्रमाद के धर्माचरण में संलग्न होकर इन्होंने परलोक के भी सुधार हेतु अपनी तत्परता दिखाई। उक्त है – या लोकद्वयसाधनी चतुरता सा चातुरी चातुरी। आगे चलकर हम देखेंगे कि डॉ० सर झा महाशय का जीवन हम लोगों के लिए कितना आदर्श एवं अनुकरणीय है।

इनका ज़न्म शाके १७९३ वर्ष के भाद्रशुक्ल पूर्णिमा को अर्थात् २५ सितम्बर १८७१ को मिथिला के श्रोत्रिय परिवार में पलिवार महिषी मूलक प्रशस्त कुल में हुआ था। यह कुल वत्स गोत्रीय शुक्ल यजुर्वेद का माध्यन्दिन

शाखावलम्बी है। सामाजिक प्रतिष्ठा, तपःपूत आचरण तथा अनवद्य वैदुष्य के लिए यह कुल दीर्घकाल से ख्यात रहा है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य तथा मीमांसा का उद्‌गम स्थल तथा यजुर्वेद के माध्यन्दिन शाखा के प्रवर्तक महर्षि याज्ञवल्क्य की कर्मभूमि मिथिला अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा के लिए चिरकाल से विश्रुत रही है। धर्मशास्त्र के क्षेत्र में स्वतन्त्र परम्परा की स्थापना हेतु सदैव तत्पर, न्याय तथा मीमांसा शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन एवं मौलिक चिन्तन के लिए प्रख्यात मिथिला मनोविनोद हेतु काव्यादि की रचना में भी पाटव अर्जित कर अपनी अस्मिता का परिचय सदैव देती रही है।

बारहवीं शताब्दी के वङ्गाभिजन महाकवि कर्णपूर ने पारिजातहरण में मिथिला का परिचय देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण से कहलवाया है – हे कमलनेत्रे रुक्मिणी! आगे जानकी की जन्मभूमि मिथिला को देखो। यहाँ प्रत्येक घर में विज्ञवृन्द के वदन पर भगवती सरस्वती दर्प से नृत्त्य करती रहती हैं।

जानकीजननभूमिरीक्ष्यतामम्बुजाक्षिमिथिलेयमग्रतः।
यत्र विज्ञवदनेषु दर्पिता नृत्यति प्रतिगृहं सरस्वती।।

ऐसी ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व से समृद्ध मिथिला की हृदयस्थली है मधुबनी जनपद का प्रसिद्ध ग्रामरत्न सरिसब। इसके अव्यवहित पूरब में बसा हुआ है पाहीटोल ग्राम, जहाँ डॉ० सर झा के पूर्वजों का आवास है। यहाँ इनके पूर्वज द्वारा कुलदेवी भगवती उग्रतारा की प्रतिमा मन्दिर में प्रतिष्ठापित है। इस भगवती उग्रतारा की नित्य पूजा होती है। डॉ० सर झा के बृहत्परिवार के लोगों के द्वारा सद्यः इस मन्दिर का जीर्णोद्धार कर दिव्य भव्य मन्दिर बनवाया गया है।

जनश्रुति है कि द्वापर में भगवान् कृष्ण के अग्रज बलराम ने अपनी इष्टदेवता भगवती सिद्धेश्वरी एवं महादेव सिद्धेश्वर की स्थापना कर दुर्योधन को यहीं गदा की शिक्षा दी थी।

प्रातःस्मरणीय कविशेखर बदरीनाथ झा ने मैथिली में सरिसब महिमा नामक कविता में कहा है –

सुकृतिमय सुन्दर सरिसब ग्राम।
मिथिलामहिमण्डलमण्डन ई सारस्वत आराम।।
सिद्धेश्वरी सहित सिद्धेश्वर थापल जत बलराम।
जतए भवानी अयाचीक तप पाओल भल परिणाम।।
वैद्यनाथ अवतरल तनय भए अपनहि शङ्कर नाम।
महादेव ढक्का कवि गणपति भानुदत्त अभिराम।।
परशुराम गङ्गानन्दक छल जे अभिजन आराम।
हरिहर वेणीदत्त सचल मोहन कृति परम ललाम।।
कमलनयन रतिपतिक मैथिली गीत जतए अनुपाम।
गङ्गानाथ अमरनाथक जत शोभित यश हिमधाम।।
मार्कण्डेय बालवृष्णादिक विद्यावैभवधाम।
कृपा कटाक्ष लक्ष कामेश्वर नृपतिक आठो याम।।
गाबथि बदरीनाथ मुदित मन कविशेखर उपनाम।

इस पद से तथा अन्य प्रामाणिक स्रोत से ज्ञात होता है कि विगत छह सौ वर्षों से विना व्यवधान के इस परिसर में पाण्डित्य की परम्परा रही है। पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में इस गाँव के आदर्श पुरुष दार्शनिक श्रेष्ठ अयाची प्रसिद्ध भवनाथ मिश्र हुए। इनके यथार्थ उत्तरसाधक (औरस पुत्र तथा शिष्य) प्रसिद्ध दार्शनिक शङ्कर मिश्र ने गौरीदिगम्बर प्रहसन में लिखा है कि इस अयाची प्रसिद्ध भवनाथ मिश्र के सुधी शिष्य वृन्द समुद्रतट पर्यन्त वसुन्धरा पर फैले हुए थे और धरातल पर विद्या विनोद के व्यसन का प्रचार करते रहे।

यस्यान्तेवासिभिः प्राज्ञैरासमुद्रं वसुन्धरा।
विद्याविनोदव्यसनव्यापारैकपरा कृता।।

पश्चात् दो सौ वर्षों के बाद सत्रहवीं शताब्दी में महाकवि भानुदत्त के पौत्री पुत्र कवीन्द्र गङ्गानन्द ने भृंग दूत में इस सरिसब परिसर को ग्रामरत्न कहा है। इन्होंने लिखा है 'हे भृङ्ग! आपकी बुद्धि यदि मीमांसाशास्त्र का विषय सुनना चाहती है, यदि मन में सुन्दर काव्य सुनने के लिए उत्सुक हो तो इस शोभाशाली सरिसब के चतुष्पाठी (विद्यापीठ) की ओर घूमते फिरते रहो।

मीमांसायां श्रवणसुरसा शेमुषी तावकी चेत्
चित्ते चेत्ते किमपि कविताकर्णने कौतुकं वा।
तत्र भ्राम्यन् बुधजनचतुष्पाठिकासु प्रयत्नात्
शोभाशालि प्रियसरिसबग्रामरत्नं परीयाः।।

इसी पवित्र परिसर में प्रसिद्ध दार्शनिक शंकर मिश्र के परिवार से परम्परया संबद्ध रहने के कारण विद्यासागर डॉ० सर झा के नैष्ठिक तथा विद्वान् पूर्वज आकर वास किया था। डॉ० सर झा के पिता धरानाथ प्रसिद्ध तीर्थनाथ झा आजन्म गायत्री की उपासना करते रहे। उषःकाल में खड़े होकर सहस्त्र गायत्री का जप करना इनका नियम था। कुछ वर्षों तक इन्होंने तीन सहस्त्र गायत्री का जप किया था। जनश्रुति के अनुसार इन्होंने जीवनकाल में तीन कोटि परिमित गायत्री जप नहीं कर सके – इसका इनको आन्तरिक कष्ट था। इन्होंने जीवन के अन्तिम समय में परिवार के मध्य इसकी अभिव्यक्ति की थी। इन्होंने इस जपात्मक अनुष्ठान के प्रसाद से लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकारों की सुख समृद्धि प्राप्त की। इनकी सन्तति अर्थात् पुत्र, पौत्र तथा दौहित्र आदि ने धन वैभव, प्रभुत्व, प्रशासनकौशल तथा गम्भीरवैदुष्य आदि के कारण उच्च प्रतिष्ठा तथा धवल कीर्ति अर्जित की। तीर्थनाथ झा का देहावसान काशी में उत्तरवाहिनी गङ्गा के तट पर मध्याह्न काल में मणिकर्णिका घाट पर ज्ञानपुरस्सर सभी पुत्र आदि सन्तति के सान्निध्य में हुआ था। **काशीमरणान्मुक्तिः** शास्त्रवचन है। अत एव इन्होंने परम पुरुषार्थ मोक्ष प्राप्त किया। वायु पुराण कहता है कि गङ्गा के तट पर अथवा पुत्र की सन्निधि में मृत्यु होने पर मोक्ष होता है। **मरणं जाह्नवी तीरे अथवा पुत्रसन्निधौ।** इनको दोनों विकल्प एक साथ उपलब्ध थे। डॉ० सर झा की आत्मकथा में इसका विशदता के साथ पल्लवन हुआ है।

वृद्धों से सुना है कि गायत्री का जप अपने साथ सन्तति को भी समृद्ध करता है। देवी भागवत में उक्त है कि प्रत्येक द्विज पहले शाक्त होता है तब शैव वा वैष्णव आदि। उपनयन होते ही वेद की जननी आदिशक्तिस्वरूपा गायत्री की उपासना करना द्विज आरम्भ करता है –

सर्वे शाक्ता द्विजा प्रोक्ता न शैवा न च वैष्णवाः।
आदिशक्तिमुपासन्ते गायत्रीं वेदमातरम्।।

डॉ० सर झा के पिता को जाति में, धर्माचरण में, सज्जनता में तथा सच्चरित्रता में प्रथम स्थान प्राप्त था। अत एव उनको तपस्वी कहना अत्युक्ति नहीं होगी।

मिथिलेश महाराज छत्रसिंह के द्वितीय बालक खण्डबला कुलालंकार महाराजकुमार बाबू वासुदेव सिंह की छोटी लड़की से इस धर्मात्मा तपस्वी तीर्थनाथ का विवाह हुआ। फलतः म०म० डा० सर झा इतने सौभाग्यशाली रहे कि जननी राजकुलोचित शिक्षादीक्षा एवं धनवैभव से सम्पन्न रही तथा पिता परमनैष्ठिक तपस्वी। इस मणिकाञ्चनयोग का फल डा० सर झा के जीवन में स्पष्टतः परिलक्षित होता रहा। सूक्ति है – **आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः।** ये सभी भाइ बहन इस मणिकाञ्चनयोग के सौरभमय कमल हुए। डा० सर झा पाँच भाइ तथा तीन बहन थे। स्वनामधन्य विन्ध्यनाथ झा, गणनाथ झा, गङ्गानाथ झा, विजय नाथ झा तथा वैद्यनाथ झा पाँच सोदर भाइ तथा तीन बहनें विन्ध्यवासिनी देवी, अपर्णा देवी तथा कल्याणवती देवी नाम से जानी जाती रही।

डा० सर झा को गायत्री तथा इष्टदेवी के शाक्त मन्त्र की उपासना के साथ माता पिता की भक्ति का प्राचुर्य का सुफल मिला कि इनके पाँच पुत्रों ने अपने नियोग में दक्षता के कारण लोकोत्तर कीर्ति एवं प्रतिष्ठा अर्जित की। सेना के डाक्टर (चिकित्सक) कैप्टन भवनाथ झा, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के तीन बार हुए कुलपति प्रसिद्ध शिक्षाविद् पद्मविभूषण अमरनाथ झा, उत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग में उच्च पदाधिकारी प० शिवनाथ झा, बिहार प्रान्त के कलक्टर विभूतिनाथ झा तथा उत्तर प्रदेश के मुख्य सचिव, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति तथा भारत की राजधानी दिल्ली के उपराज्यपाल डॉ० आदित्यनाथ झा कुल गौरव के संवर्धन में सदैव तत्पर रहे।

भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रमुख सहयोगी डा० सर झा के ममेरे भाइ मिथिलेश महाराज लक्ष्मीश्वर सिंह का शिक्षा के क्षेत्र में प्रशंसनीय योगदान रहा है। कलकत्ता विश्वविद्यालय का दरभंगा हाउस इनके शिक्षा के प्रसंग में औदार्य का साक्ष्य के रूप में विद्यमा : है। इन्होंने ही (मिथिलेश लक्ष्मीश्वर सिंह ने ही) डा० सर झा के सभी भाइयों की शिक्षादीक्षा की व्यवस्था कर इन लोगों को प्रबुद्ध तो बनाया ही साथ साथ देश एवं समाज का भी

परम्परया महान उपकार किया। विश्व के समक्ष विद्या एवं विनय से सम्पन्न डा० सर झा जैसे व्यक्तित्व एवं वैदुष्य को खड़ा करने का श्रेय उक्त मिथिलेश को ही है।

डा० झा ने अपने डी०लिट्० शोधप्रबन्ध 'प्रभाकर स्कूल औफ पूर्व मीमांसा' अत्यधिक श्रद्धा से माता पिता के साथ अभिभावक इस मिथिलेश को भी समर्पित किया है।

पितुः श्रीतीर्थनाथस्य प्रभोर्लक्ष्मीश्वरस्य च।
मातुस्तीर्थलतादेव्याः पादयोरिदमर्पितम्।।

पुनश्च जीवन के सान्ध्य बेला में डा० सर झा ने 'मिथिलेश महेश रमेश भाषणमाला' का प्रवर्तन करते हुए संस्कृत शिक्षा विधान शीर्षक भाषण में इस मिथिलेश लक्ष्मीश्वर सिंह का अत्यन्त श्रद्धा के साथ स्मरण करते हुए कहा है 'पढ़ा लिखाकर जिसने मुझे मनुष्य बनाया'।



अध्ययन एवं प्रतिभा

डॉ० सर झा ने यदि विहार को अपने जन्म से कृतार्थ किया तो उत्तर प्रदेश को उच्च शिक्षा के अर्जन तथा कार्यक्षेत्र बनाकर गौरवान्वित किया। इन्होंने १८८६ ई० में हाइस्कूल की परीक्षा उत्तम श्रेणी से उत्तीर्ण कर काशी के क्वीन्स कॉलेज में नामाङ्कन कराकर उच्च शिक्षा पायी तथा प्रयाग विश्वविद्यालय के म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में अध्यापन का अवसर पाकर यहीं आजीवन विद्याव्यवसाय में लगे रहे, सारस्वत अभ्युन्नति प्राप्त की, क्वीन्स कॉलेज के प्रथम भारतीय प्राचार्य तथा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर तीन बार आसीन हुए। उत्तर प्रदेश की शिक्षा के प्रचार में इस पिता पुत्र का अविस्मरणीय योगदान रहा है। इलाहाबाद में अध्यापन का अवसर मिलने पर मिथिला के पण्डित समुदाय का समवेत स्वर में जो अभिनन्दन का भाव था उसको मैथिली साहित्य के आधुनिक युग के निर्माता मिथिला रामायण के प्रणेता महाकवि चन्द्र (चन्दा झा) ने मैथिली पद्य में इस प्रकार अभिव्यक्त किया है –

हर्षक विषय कहल नहि जाए, विषय उचित विद्याबल पाय
कत गोट भाग्य त्रिवेणी स्नान, दैवक हाथ मान अपमान।।

(हर्ष का विषय हम लोगों के लिए है कि आपने अनुरूप अध्यापन का पद विद्या बल पर प्राप्त किया। भाग्य से प्रतिदिन त्रिवेणी स्नान का अवसर मिला। दरभंगा राज में महाराजा रमेश्वर सिंह ने जो राज के पुस्तकालयाध्यक्ष पद रो अकारण बर्खास्त किया, वह दैव के हाथ में था।)

'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस वेदवचन के अनुसार ब्राह्मण या द्विज मात्र के लिए विद्या के व्यवसाय में लगा रहना कर्तव्य है। व्याकरण महाभाष्य में

ऋषि पतञ्जलि ने भी कहा है कि बिना कारण की जिज्ञासा के ब्राह्मण का कर्तव्य है षडङ्ग सहित वेद का अध्ययन करना। महाभारत के राजधर्म प्रकरणगत अनुशासन पर्व में उक्त है केवल स्वाध्याय करते रहने से ब्राह्मण परिनिष्ठित (कृतार्थ) रहता है अन्य कुछ करे या न करे, वह सब का मित्र कहलाता है –

परिनिष्ठितकार्यो हि स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः।
कुर्यादन्यन्नवा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।।१२।६।१२

इस पद्य का उल्लेख तन्त्रवार्त्तिक के स्मृत्याचार प्रामाण्याधिकरण में भट्ट कुमारिल ने भी किया है। इस पद्य के अभिप्राय को डा. सर झा ने आजीवन चरितार्थ किया।

शाबर भाष्य की व्याख्या बृहती में प्रभाकर मिश्र ने कहा है कि समावर्तन संस्कार के पश्चात् स्नातक के लिए दो रास्ते निर्दिष्ट हैं। विवाह कर गृहस्थ धर्म का निर्वाह या अग्रिम अध्ययन अनुसन्धान में संलग्न होना।

डा. सर झा ने एम.ए. करने के बाद भी दो वर्षों तक काशी में रहकर काशी के प्रसिद्ध पण्डितों से अभीष्ट शास्त्रों का अध्ययन किया और अनुसन्धान अध्यापन तो आजीवन किया ही। साथ साथ गृहस्थ धर्म के सुचारु निर्वाह हेतु विवाह भी किया। शकराढी मूलक उच्चकुल संभूत महामहोपाध्याय पण्डित हर्षनाथ झा की ज्येष्ठा कन्या से इनका विवाह हुआ था।

इनके अनुरूप पुत्र शिक्षाविद् डॉ० अमरनाथ झा ने डॉ. सर झा की कृति 'पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेस' के मुखबन्ध में लिखा है कि इन्होंने पिता को कभी भी ऐसा नहीं देखा कि वे बिना पढ़ते लिखते बैठे हों।

डा० सर झा ने पाँच अनुरूप पुत्र तथा पाँच सुलक्षणा कन्याओं का पिता होकर जीवन में पौत्र दौहित्र आदि का सुख प्राप्त किया। इष्ट और पूर्तकर्म करते हुए मौलिक ग्रन्थ लेखन, कठिन शास्त्रीय ग्रन्थों के व्याख्या का प्रणयन, विविध संस्थाओं में शास्त्रीय विषयों पर भाषण, सम्पूर्ण विश्व में भारतीय विद्या के प्रचार प्रसार हेतु प्रमुख दार्शनिक आकर ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद तथा उपादेय ग्रन्थों का सामीक्षिक संपादन कर लोकोत्तर कीर्त्ति तथा ख्याति अर्जित की।

अधीतमध्यापितमर्जितं यशो न शोचनीयं किमपीह भूतले अयाची प्रसिद्ध भवनाथ मिश्र के लिए प्रसिद्ध यह सूक्ति इनमें भी अच्छी तरह चरितार्थ हुई है। अन्तिम समय में तीर्थराज प्रयाग में शरीर छोड़ने के कारण दोनों तरह से इन्होंने मुक्ति की प्राप्ति की। ज्ञानान्मुक्तिः अथवा कविकुलगुरु कालिदास की सूक्ति के अनुसार प्रयाग में मरण से मुक्ति इनको दोनों ही प्राप्त था –

समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनाञ्चात्र किलाभिषेकात्।
शरीरबन्धेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः।।

तीसरी बात यह भी है – वायु पुराण कहता है कि गंगा के तट पर अथवा पुत्र की सन्निधि में मरण होने पर मुक्ति होती है। तीर्थराज प्रयाग में सभी पुत्र दौहित्र तथा भागिनेय आदि की उपस्थिति में आपका शरीर त्याग हुआ था।

मरणं जाह्नवीतीरे अथवा पुत्रसन्निधौ। (वायु पुराण)

इनके अध्यापकों में उल्लेखनीय हैं महामहोपाध्याय जयदेव मिश्र, म०म० शिवकुमार शास्त्री, म०म० गङ्गाधर शास्त्री, म०म० कैलासचन्द्र शिरोमणि, प्रो० थीवो साहब, म०म० विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, प्रो० भेनिस साहब तथा महामहोपाध्याय चित्रधर मिश्र।

यद्यपि डॉ० सर झा संस्कृत शास्त्र (भारतीय विद्या) के अध्येता थे तथापि उस समय में परीक्षा में अंग्रेजी में प्रश्नोत्तर लिखने की परिपाटी थी, अतः पढ़ते समय ही इन्होंने तीन ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद कर लिया था। वे ग्रन्थ हैं न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, सांख्यतत्त्वकौमुदी तथा काव्यप्रकाश।

अपनी आत्मकथा में इन्होंने लिखा है कि बाल्यकाल से ही इनको लेखक होने की लालसा थी। स्नातक होने से पहले ही पद्यों की रचनाकर इन्होंने इस लालसा को पूरा कर लिया था। संस्कृत में एक सौ श्लोकों को लिखकर उनमें से (५०) पचास पद्यों को चुनकर संग्रह किया तथा **कतिपयदिवसोद्गमप्ररोहः** शीर्षक देकर प्रकाशित कर अपनी मित्रमण्डली में वितरित किया था। यही साहित्यिक कृति इनकी पहिली कृति के रूप में प्रसिद्ध है। इसके बाद **'बेला माहात्म्य'** नाम से पुराण की शैली में एक छोटा सा ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित किया था। इस पद्यावली में इन्होंने पुराण के नाम

से प्रसिद्ध किन्तु पुराण में अनुपलब्ध कथाओं की पैरोडी तैयार की थी। अत एव वृद्ध विद्वद्वृन्द इसे देखकर इन पर नाराज हो गये थे। दरभंगा में राज की ओर से बेला महल्ला में इन लोगों को आवास मिला था, उसी का वर्णन इसमें किया गया था। प्रयास करने पर भी इन कृतियों को मैं दृष्टिगोचर नहीं कर सका। न तो गङ्गानाथ झा विद्यापीठ में उपलब्ध है न ही इनके किसी पुत्र के घर में।

अंग्रेजी में अधिक सारस्वत कार्य करने में इनकी भावना थी कि विश्वभर में इसका प्रचार होगा और तब इसका व्यापक मूल्याङ्कन भी होगा। परीक्षा में संस्कृत विषय का भी उत्तर उस समय में अंग्रेजी में लिखना आवश्यक था। अतः संस्कृत विषय का अंग्रेजी अनुवाद करते समय उस विषय का अच्छा अभ्यास और आवृत्ति भी हो जाती थी।

इस सन्दर्भ में डॉ० सर झा ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि स्वनामधन्य प्रो० रामावतार शर्मा निविष्ट विद्वान् तथा आधुनिक विद्या में दक्ष रहकर भी केवल उत्तर भारत में प्रसिद्धि प्राप्त की। क्योंकि उनकी कृति संस्कृत में थी अंग्रेजी में नहीं। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बङ्गला गीताञ्जलि बङ्गाल तक ही प्रसार प्राप्त की थी किन्तु जब उन्होंने इसका अंग्रेजी अनुवाद किया तो वह कृति नोबुल पुरस्कार प्राप्त कर विश्व में सम्मानित हुई। उन्हीं को आदर्श मानकर डॉ० सर झा ने भारतीय विद्या का अंग्रेजी में अनुवाद करने का निश्चय किया।



आरम्भिक सेवाकाल

कृतविद्य होकर काशी से घर लौटने पर इनके ममेरे भाई मिथिलेश लक्ष्मीश्वर सिंह ने राज दरभंगा के पुस्तकालय के अध्यक्ष रूप में इनकी नियुक्ति की। मिथिलेश अपने पुस्तकालय को समृद्धतम देखना चाहते थे, अत एव यहां चक्षुष्मान् विद्वान् को लाया गया था। डॉ० सर झा ने मिथिलेश की रुचि के अनुकूल हस्तलेख एवं प्रकाशित पुस्तकों का संग्रह करने में पूर्ण सफलता पायी। भारतीय विद्या के दुर्लभ हस्तलेखों का संग्रह तथा देशविदेश में प्रकाशित पुस्तकों के विशाल संग्रह से पुस्तकालय समृद्ध से समृद्धतर होता रहा।

यहाँ पुस्तकालयाध्यक्ष पद पर रहते हुए डॉ०सर झा ने मिथिलेश के प्रख्यात मीमांसक तथा राजदरभंगा के द्वारपण्डित महामहोपाध्याय चित्रधर मिश्र से मीमांसाशास्त्र का अध्ययन भी प्रारम्भ किया। तथा अवसर पाकर भारतीय विद्या के दुरूह ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद भी करना प्रारम्भ किया। पश्चात् मीमांसाशास्त्र के अध्ययन अध्यवसाय में इनका मन सर्वाधिक रम गया। फलतः इन्होंने शोधकार्य मीमांसा शास्त्र पर ही किया। मीमांसाशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद तथा मीमांसाशास्त्रीय पदार्थों के उद्भव विकास का विशद विवरण भी अर्थात् मीमांसाशास्त्र का विश्वकोश स्वरूप ग्रन्थ 'पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेस' इनकी असाधारण कृति के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्तों का इस प्रकार उद्भव विकास का विवरण अनुसन्धान के क्षेत्र में अपेक्षित है, जो आज तक किसी ने किया नहीं है। भारतीय दर्शनों के इतिहास में अपने अपने दर्शन के ग्रन्थों का देशकाल के साथ सिद्धान्त तो दार्शनिकों के मौलिक चिन्तन रूप में उपलब्ध है किन्तु कौन

सा सिद्धान्त कब आरम्भ हुआ तथा उस सिद्धान्त का विकास किस समय में किस प्रकार हुआ – यह जैसे डॉ० सर झा ने मीमांसा दर्शन के सिद्धान्तों के सन्दर्भ में परिणत वयस में उपर्युक्त कृति में किया है वैसा अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों का उपलब्ध नहीं है। आज इस प्रकार के कार्य की महती आवश्यकता है। इस ग्रन्थ के प्रीफेस में प्रो० आर०डी० रानाडे महाशय ने डा० सर झा को भट्टकुमारिल का अवतार कहा है।

यद्यपि इनका शोध प्रबन्ध प्राभाकर के सिद्धान्तों को व्याख्यायित करने में मर्यादित है तथापि इनके जीवन के कार्य की पूर्णता कुमारिल के सिद्धान्तों के व्याख्यान में ही हुई, जो उस समय तक किसी अन्य विद्वान् नहीं कर पाये थे। कुमारिल की तरह इन्होंने भी अपने नश्वर पार्थिव शरीर का त्याग प्रयाग में ही किया।

यहाँ पर भी लक्ष्य करने योग्य है कि इनके शोध-प्रबन्ध की भाषा नई उमर के रहने के कारण थोड़ा कठिन है और 'पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेस' की भाषा परिणत वयस की रहने से नितान्त सरल है। एक अभिज्ञ गुरुजन से इसकी चर्चा करने पर उन्होंने कहा कि हिमालय से आविर्भूत अलकनन्दा की धारा की तीव्रता और भागिरथी की धारा की गम्भीरता देखकर उत्तराखण्ड के लोग भागिरथी को सास और अलकनन्दा को बहू कहते हैं।

डॉ० सर झा ने अन्य दर्शनों तथा साहित्य आदि विद्या के अध्ययन-क्रम में उपेक्षा नहीं की, समान रूप से श्रमक्रम से उनकी अधिगति की मीमांसा में अधिक मन लगने से इस शास्त्र में अधिक कार्य किया। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त तथा बौद्ध दर्शन के साथ साहित्य विद्या के अध्ययन का साक्ष्य उन शास्त्रों में उपलब्ध इनकी कृतियाँ ही प्रस्तुत करती हैं। आगे चलकर यह और अधिक स्पष्टता से ज्ञात होगा।

राजदरभङ्गा की धौत परीक्षा तथा डॉ० सर गङ्गानाथ झा

१८९८ ई० में मिथिलेश लक्ष्मीश्वर सिंह के स्वर्गवासी होने पर इनके अनुज रमेश्वर सिंह मिथिलेश हुए। इस अवसर पर मिथिलेश ने धौतपरीक्षा का आयोजन करबाया। इस परीक्षा में लगभग तीन सौ पण्डित प्रतिभागी हुए थे।

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र धर्मदत्त (बच्चा) झा ने सरयन्त्र[१] परीक्षा दी थी। इन्होंने अपने आवेदन में निवेदन किया था कि इनकी मौखिकी परीक्षा हो। इस अवसर पर सांख्ययोग दर्शन में महामहोपाध्याय डा० सर गङ्गानाथ झा भी परीक्षार्थी हुए थे।

यद्यपि राजदरभंगा की सेवा में (पुस्तकालयाध्यक्ष) रहने के कारण ये परीक्षा सञ्चालन के सक्रिय सहयोगी थे। चूँकि इसी समय से लिखित परीक्षा का शुभारम्भ मिथिलेश की आज्ञा से हुआ था। अत एव प्रश्नपत्रों का संग्रह, उनका चयन तथा प्रकाशन आदि इन्हीं की जिम्मा में दिये गये थे, तथापि इनकी परीक्षा का भार इनके गुरु महामहोपाध्याय शिवकुमार मिश्र को सौंपा गया था। इनकी परीक्षा का प्रश्नपत्रादि की व्यवस्था उन्हीं को करना था।

इस परीक्षा में नियम था कि अनेक विद्वानों से प्रश्नपत्र बनवाया जाता था। सभी प्रश्नपत्रों से एक एक प्रश्न चयन कर संकलन किया जाता था। तब उन प्रश्न पत्रों का प्रकाशनकर परीक्षार्थी को दिया जाता था। इस कार्य में इनके गुरु म०म० शिवकुमार मिश्र इनके सहयोगी हुआ करते थे। प्रत्येक उत्तर पुस्तिका को दो दो परीक्षकों से दिखवाकर उसका मूल्याङ्कन होता था। इस परीक्षा में निर्धारित ग्रन्थ दो कोटि के होते थे। प्रथम कोटि बें ऐसे ग्रन्थ निर्धारित थे, जिनका अध्ययन गहन रूप से मनोयोग पूर्वक विद्वद्जन करते थे और द्वितीय कोटि में ऐसे बहुत ग्रन्थ होते थे जिनका अध्ययन आंशिक रूप से या विशेष जिज्ञासावश विद्वज्जन करते थे। इन ग्रन्थों को परीक्षा के दिन परीक्षा भवन में अपने साथ ले जाने की अनुमति दी गयी थी। आवश्यकता होने पर उसको देखकर भी उत्तर लिखने की छूट थी। मिथिलेश रमेश्वर सिंह के राज्याधिरोहण के पहले यह परीक्षा केवल मौखिकी होती थी।

यद्यपि डॉ० सर झा के परीक्षक म०म० शिवकुमार मिश्र थे, जो डॉ० सर झा के गुरु भी थे तथापि मिथिलेश का म०म० मिश्र पर यह विश्वास नहीं था कि डॉ० सर झा के विषय में म०म० मिश्र पक्षपात नहीं करेंगे। अतः अगले दिन इनकी परीक्षा के प्राश्निक हुए सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पण्डित धर्मदत्त (बच्चा) झा। चूँकि डॉ० सर झा को सांख्य योगदर्शन के ग्रन्थ सब साङ्गोपाङ्ग अधीत थे

---

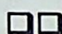
१. यहाँ सरयन्त्र का परिचय पृ. ८६ में द्रष्टव्य है।

तथा ग्रन्थ भी अन्य दर्शनों की अपेक्षा इसमें अल्प थे, अतः इन्होंने परीक्षा भवन में उन ग्रन्थों को अपने साथ नहीं ले गये थे। इससे मिथिलेश को संशय हुआ कि डॉ० सर झा को सभी प्रश्न पूर्व से ही ज्ञात है, अतः पुस्तक परीक्षा भवन में इन्होंने नहीं लाया। इस दिन की इनकी उत्तर पुस्तिका का मूल्याङ्कन मिथिलेश ने सर्वतन्त्र स्वतन्त्र धर्मदत्त (बच्चा) झा से करवाया। इस पत्र में इनको २०० पूर्णाङ्क में १९७ अंक प्राप्त हुए थे।

यद्यपि उस समय के गुरु ऐसा चरित्रहीन नहीं हुआ करते थे कि अपने शिष्य का पक्षपात करते तथापि मिथिलेश का चित्त तो 'नृपस्य चित्तं' था। अत एव इस प्रकार का संशय होना अस्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है।

डॉ० सर झा ने यद्यपि प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान इस धौतपरीक्षा में प्राप्त किया था तथापि मिथिलेश का मानना था कि डॉ० सर झा कितना भी पारम्परिक पण्डितों से संस्कृत पढ़ लें इनका मुख्य विषय तो अंग्रेजी ही है। अतः धोती का जोड़ा तथा प्रतिष्ठा पत्र तो इनको मिला किन्तु प्रथमश्रेणी में प्रथम स्थान सूचक दोशाला (ऊर्णा वस्त्र) इनको मिथिलेश से नहीं मिला।

चूंकि इस वंश के मिथिला राज्योपार्जक महेश ठाकुर विद्या के बल पर (असाधारण पाण्डित्य के कारण) राज्य उपार्जित किया था अतः विशेष पाण्डित्य का द्योतक इस धौतपरीक्षा का आरम्भ इन्होंने किया था। मिथिला में इस धौतपरीक्षा का महत्त्व सर्वाधिक माना जाता था। स्वयं महेश ठाकुर नैयायिक थे, अत एव न्याय के परीक्षार्थी को अधिक सम्मान किया जाता था।



प्रयाग आगमन

अपने प्रिय अभिभावक मिथिलेश लक्ष्मीश्वर सिंह के दिवङ्गत हो जाने पर डॉ० सर झा का मन प्रायः दरभङ्गा से उचट सा गया। नवीन मिथिलेश रमेश्वर सिंह के व्यवहार से असन्तोष एवं क्षोभ भी होने लगा, जिसका उल्लेख इन्होंने अपनी कृति आउटोबायोग्राफिकल नोट्स में किया है। फलतः १९०२ ई० में इलाहाबाद आकर म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में इन्होंने संस्कृत के प्राध्यापक रूप में कार्यारम्भ किया।

यहाँ (प्रयाग में) इनको अध्यापन के साथ अध्ययन का भी अवसर मिलता रहा। कॉलेज से दो तीन दिनों का अवकाश मिलने पर काशी चले आते थे। यहाँ महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री से शास्त्रीय जिज्ञासा को शान्त कर लिया करते थे। तीर्थराज प्रयाग में रहकर इन्होंने भरपूर विद्या का उपयोग किया। अध्ययन–अनुसन्धान, अध्यापन–भाषण तथा ग्रन्थ लेखन (मौलिक, अनुवाद तथा सामीक्षिक सम्पादन) इनका व्यसन हो गया था। कविकुल गुरु कालिदास ने शिक्षक के गुण कीर्तन में मालविकाग्निमित्र में कहा है कि कुछ शिक्षक स्वयं बहुत जानते रहते हैं किन्तु शिष्यों को समझाने की कला में असमर्थ रहते हैं। कुछ शिक्षक ऐसे होते हैं कि स्वयं तो कम जानते हैं किन्तु शिष्यों को अच्छी तरह समझाने में सर्वथा सफल रहते हैं। शिक्षकों के बीच अग्रगण्य वही होता है, जो स्वयं अच्छी तरह विद्या परिशीलन किये रहता है और शिष्यों को भी अच्छी तरह समझा सकता है –

श्लिष्टा क्रिया कस्यचिदात्मसंस्था
संक्रान्तिरन्यस्य विशेषयुक्ता।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां
धुरि प्रतिष्ठापयितव्य एव।।

गङ्गा तथा यमुना के संगम स्थल पर प्रयाग में विविध संस्कृतियों से सम्पन्न विभिन्न प्रान्तीय सुधीवृन्द का भी सङ्गम रहने से आकृष्ट होकर डॉ०सर झा को जब स्थायी अध्यापन वृत्ति मिली तो यहाँ स्थायी रूप से आवास बनाने की भी स्पृहा हुई जो १९१० ई० में जॉर्जटाउन में घर बनाने पर पूरी हुई। यहाँ आजीवन ये शास्त्रों के चिन्तन मनन में लगे रहे।



अध्यापन अनुसन्धान एवं प्रशासन

१९०९ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने इनको शिक्षाक्षेत्र के सर्वोच्च पदवी डी०लिट्० देकर इनके वैदुष्य का सम्मान किया। इनके शोध प्रबन्ध का नाम है 'प्राभाकर स्कूल औफ पूर्व मीमांसा' मीमांसा दर्शन में प्राभाकर संप्रदाय के सिद्धान्तों का विवेचन। मीमांसा दर्शन के दो सम्प्रदाय अधिक प्राचीन एवं प्रसिद्ध हैं। कुमारिल भट्ट द्वारा प्रवर्तित तथा पार्थसारथि मिश्र, सुचरित मिश्र, खण्डदेव तथा नारायण भट्ट आदि द्वारा पल्लवित मीमांसाशास्त्र भाट्ट सम्प्रदाय या भाट्टमत कहलाता है और प्रभाकर मिश्र द्वारा प्रवर्तित तथा शालिकनाथ मिश्र एवं नन्दीश्वर आदि द्वारा पल्लवित है यह प्राभाकर संप्रदाय अथवा प्राभाकर मत।

पश्चात् एक और संप्रदाय मुरारिमिश्र द्वारा प्रवर्तित हुआ। त्रिपादीनीतिनयन इनकी कृति प्रसिद्ध है। इसका आगे पल्लवन नहीं हो सका।

मीमांसा शास्त्र की चिन्तनधारा भाट्ट और प्राभाकर सम्प्रदाय में अधिक वेगवती होकर आगे बढ़ती रही। दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तगत पार्थक्य का परिचय दीर्घकाल तक विविक्त रूप में सुधी समाज में विदित नहीं था। प्राभाकर सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का विशेष उपपादन प्रतिपादन सबसे पहले इसी शोध प्रबन्ध में देखा गया, जिससे भाट्ट और प्राभाकर मान्यताओं का पार्थक्य ज्ञात हो सका। इसलिए अपने समय में इस शोध प्रबन्ध का सर्वाधिक महत्त्व सुधी समाज द्वारा माना गया। इसके पहले दोनों सम्प्रदायों के सिद्धान्तों के साम्य और वैषम्य का ज्ञान मीमांसकों को भी ज्ञात नहीं था। अंग्रेजी में लिखित रहने से इस शोध प्रबन्ध का विश्व भर में प्रचार प्रसार हुआ।

उस समय में पुस्तक प्रकाशन की सुविधा आजकल की तरह नहीं थी। फलतः शोधप्रबन्ध के पाद टिप्पण में मूल ग्रन्थ का आवश्यक उद्धरण संस्थागत हस्तलिखित ग्रन्थ से यहाँ दिया गया है। आज की दृष्टि से सौ वर्ष पहले अनुसन्धान करने वालों के लिए यह कार्य कितना दुष्कर, अवधानपूर्ण तथा कठिन परिश्रम साध्य था – यह सहज ही ज्ञात किया जा सकता है।

डॉ० झा ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि इस शोध प्रबन्ध के तीन परीक्षक थे – महामहोपाध्याय गङ्गाधर शास्त्री, महामहोपाध्य शिवकुमार शास्त्री तथा प्रो० थीबो साहब। दो भारतीय विद्वान् अंग्रेजी भाषा से सर्वथा अनभिज्ञ थे। अत एव अंग्रेजी में लिखित शोधप्रबन्ध का संस्कृत में सारांश लिखकर उन परीक्षकों के लिए प्रस्तुत करना पड़ा था।

सुधी समाज में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार भट्टकुमारिल के शिष्य थे मण्डनमिश्र तथा प्रभाकर मिश्र। डॉ. सर झा ने 'प्राभाकर स्कूल पूर्व मीमांसा' में पृ. ११ पर लिखा है कि यह केवल जनश्रुति ही नहीं है सर्वसिद्धान्तरहस्य में (जो पं० शेष का लिखी हुई पुस्तक है तथा उनके पुत्र पं. गोविन्द ने उसकी व्याख्या की है) उक्त है –

अस्यां सूत्रं जैमिनीयं शाबरं भाष्यमस्य तु।
मीमांसावार्त्तिकं भाट्टं भट्टाचार्यकृतं हि तत् ।।

तच्छिष्योऽप्यल्पभेदेन शाबरस्य मतान्तरम्।
प्रभाकरगुरुश्चक्रे तद्धि प्राभाकरं मतम् ।।

तस्य भाष्यवार्त्तिककर्तुः भट्टाचार्यस्य शिष्यः प्रभाकरगुरुः भट्टमतात् उपादान ग्राहक ग्रहणादिरूप प्रमाणान्तरनियोगशब्द बलादबलवादार्थ-बलवादादिरूप षड्भेद स्वीकारेण शाबरस्य शबरस्वामिकृतस्य भाष्यस्य मतान्तरं प्राभाकरन्नाम ग्रन्थभेदं कृतवानित्यर्थः। अध्यापन के समय किसी मीमांसाशास्त्र के ग्रन्थ में एक पंक्ति आई **अत्रापिनोक्तं तत्र तुनोक्तम् इति द्विरुक्तम्।** यहाँ कुमारिल भट्ट चुप्प हो गये। कारण यह था कि आपाततः प्रतीत होता है कि यहाँ भी नहीं कहा गया, वहाँ भी नहीं कहा गया तब दो बार कैसे कहा गया। अभिप्राय नहीं समझने से चिन्तित गुरु कुमारिलभट्ट पाठन से विरत होकर बाहर किसी कार्य से चले गये। प्रभाकर ने यहाँ ग्रन्थ में पदच्छेद कर दिया **अत्र अपिना उक्तम् तत्र तुना उक्तम् इति द्विरुक्तम्।** एक स्थान

में जो अपि पद से कहा गया वही विषय दूसरे स्थान में तु पद से कहा गया, अतः दो बार कहा गया। कुमारिल भट्ट जब आसन पर आए तो ग्रन्थ में पदच्छेद करके लिखा हुआ देखकर नितान्त आनन्दित हुए। प्रभाकर मिश्र का लिखा हुआ पदच्छेद जानकर प्रसन्न होकर उनको गुरु कहने लगे। यही कारण हुआ कि पश्चात् ग्रन्थ में प्रभाकर का उल्लेख गुरु नाम से होने लगा। आचार्य उदयन ने न्याय कुसुमाञ्जलि में एक स्थान पर लिखा है **गुरुमतमेतत् न तु गुरोर्मतम्।** यह गुरु का अर्थात् प्रभाकर का मत है मेरे गुरु का नहीं। यहाँ कुसुमाञ्जलि के व्याख्याकार ने कहा है कि प्रभाकर के लिए प्रसिद्ध गुरु पद से यहाँ अनादर में समास हुआ है और अपने गुरु के लिए सम्बन्ध में षष्ठी विभक्ति।

किन्तु डॉ० सर झा ने प्रभाकर के सम्बन्ध में प्रचलित एवं कल्पित उपर्युक्त मान्यता के विपरीत दो युक्तियाँ कही है। कुमारिल से पूर्ववर्ती प्रभाकर इसलिए हैं कि प्रभाकर शबरमुनि के भाष्य के अनुकूल उसकी व्याख्या बृहती में करते हैं और भट्टकुमारिल में स्वाच्छन्द्य है शबरमुनि के भाष्य में निर्दिष्ट मान्यताओं को मानने की बाध्यता इनमें नहीं है, मान भी लेते हैं नहीं भी मानते हैं।

दूसरी युक्ति यह है कि यदि प्रभाकर परवर्ती होते तो कुमारिल के उन मतों का खण्डन अवश्य करते जो मत शबर भाष्य के प्रतिकूल हैं। इन अन्तः साक्ष्यों के आधार पर सर्वसिद्धान्त रहस्य की उक्ति एवं इसके अनुकूल प्रचलित जनश्रुतियाँ मिथ्या प्रतीत होती हैं।

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद् विभागे स्यात् इस मीमांसा सूत्रगत अर्थ पद से वाच्यार्थ कुमारिल कहते हैं और प्रभाकर यहाँ अर्थ पद का प्रयोजन अर्थ करते हैं। एक वाक्य वह है जो एक विचार कहता हो – यह कुमारिल का कहना है। एक वाक्य वह है जो किसी प्रयोजन से युक्त हो यह प्रभाकर का मत है। इसमें किसी पद के विभाग करने पर वाक्य साकांक्ष हो जायेगा यह दोनों को मान्य है। ज्ञान स्वप्रकाश है – यह प्रभाकर का मत है। ज्ञान में ज्ञातता उत्पन्न होकर वह ज्ञान का ग्राहक होता है – यह कुमारिल का मत है। इसी प्रकार अनेक विषय हैं जो परस्पर सम्प्रदाय के भेद से उपपन्न होते हैं।

डॉ० सर झा के इस शोध प्रबन्ध के प्रकाशन होने पर विदेश से अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों का पत्र इनको प्राप्त हुए, जिनमें इनके शोधप्रबन्धों की प्रशंसा रहती थी। इन पत्रों से इनके उत्साह में वृद्धि का होना स्वाभाविक था। विद्वद्वृन्द द्वारा आत्मगुण के आदर से आत्मविश्वास बढ़ता है, यह कविकुलगुरु कालिदास ने कहा है –

प्रायः प्रत्ययमाधत्ते स्वगुणेषूत्तमादरः।

विदेशके ख्यातनामा मनीषी डॉ० थामस साहब के अनेक पत्र इस शोध प्रबन्ध के तथा इनके सारस्वत अनुष्ठान के प्रसंग में आए, जिससे इनको निश्चित रूप से प्रतीत हुआ कि शोध प्रबन्ध से इनके वैदुष्य की ख्याति सम्पूर्ण विश्व में स्थापित हुई है।

इलाहाबाद विद्यापीठ में किसी पुस्तक के अन्दर मुझे एक पत्र मिला जिसे उक्त संस्था के सुवर्णजयन्ती के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका में मैंने प्रकाशित किया है। जर्मनी के प्रतिष्ठित भारतीय विद्या के उपासक प्रो० ओटो स्ट्राउस महाशय ने इनकी षष्ठिपूर्ति के अवसर पर अभिनन्दन स्वरूप लिखा है –

Dear Mahamahopadhyaya

It is this old and beautiful title among all you bear, with which i beg to address you on your sixtieth birthday. For you have been a real `Upadhyaya' to all of us. Who strive to understand the philosophical systems of ancient India. Without your works of Mimansa Nyaya and Vedant. I could not have written the humble contribution which you perhaps know by name. You appear to me as the happy blend of ancient Pandit with his depth of knowledge, and of the modern scholar with his wide horizon. May God grant you many years to come, in such a freshness, that you labour for the good of all who are approoaching the Jewels of ancient Indian thought.

इनकी षष्टिवर्ष पूर्ति के अवसर पर मित्र, प्रशंसक तथा शिष्य वर्गों के द्वारा श्रद्धा एवं आदर से दिये गये अभिनन्दन ग्रन्थ में गङ्गानाथ झा पुष्पाञ्जलि में सम्पूर्ण विश्व के सुधी समाज का आलेख विद्यमान है। यहाँ परिशिष्ट दो में लेखक का नाम निर्देश पूर्वक निबन्ध के शीर्षक संकलित हैं।

जब तक डॉ० सर झा इलाहाबाद में थे, अपने सारस्वत अनुष्ठान–अध्यापन, भाषण, ग्रन्थलेखन तथा दुर्लभ ग्रन्थों के सामीक्षिक सम्पादन के साथ इण्डियन थौट नामक पत्रिका के प्रकाशन में अपने गुरु प्रो० थीबो साहब का प्रमुख रूप से सहयोग करते रहे। पण्डित पत्रिका तथा इण्डियन थॉट दोनों पत्रिकाओं में भारतीय विद्या के मूल्यवान् ग्रन्थ तथा उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित होता था। इस पत्रिका के माध्यम से सम्पूर्ण विश्व में भारतीय विद्या का प्रचार प्रसार होता रहा।

१९१० ई० में इनकी उच्च कोटि की सारस्वत साधना तथा पाण्डित्य की ख्याति सुनकर तात्कालिक भारत सम्राट् ने इनको महामहोपाध्याय की उपाधि से सम्मानित किया।

१९१९ ई० में प्रथम भारतीय विद्वान् डॉ० सर झा क्वीन्स कॉलेज वाराणसी के प्रिन्सिपल (प्रधानाचार्य) पद पर अंग्रेज भारत शासक द्वारा नियुक्त हुए थे। इन्होंने अपने प्रिन्सिपल रहने के समय में आचार्य उत्तीर्ण जिज्ञासु सुधी को दो तीन वर्षों तक जीवन निर्वाह भत्ता ३० रु० प्रतिमास देकर अपने शास्त्र में अभिज्ञता अर्जन की व्यवस्था की थी। इस अभिज्ञता अर्जन की यही परीक्षा थी कि अध्यापक गुरु क्वीन्स कॉलेज के प्रिन्सिपल के पास अनुशंसा करते थे कि मेरे अमुक छात्र अपने शास्त्र में अभिज्ञता अधिगत की है, इसको पोस्ट आचार्य की पदवी दी जाए। मेरे घर के निकट लालगंज ग्रामवासी प्रसिद्ध दार्शनिक शङ्कर मिश्र के वंशधर नैयायिक पुष्पनाथ मिश्र के पुत्र नैयायिक जगदीश मिश्र पोस्ट आचार्य पदवी प्राप्त की थी – मैंने अपने गुरु नैयायिकवर महेश झा से यह बात सुनी है।

१९१६ इ० के फरवरी माह में भारत के बड़ालाट हार्डिन्ज ने काशी में हिन्दू विश्वविद्यालय का शिलान्यास किया था। डॉ० सर झा के प्रधान शिष्य प्रो० क्षेत्रेशचन्द्रचट्टोपाध्याय से मैंने सुना है कि उक्त शिलान्यास के अव्यवहित पहले हुई वास्तु पूजा का पौरोहित्य डा० सर झा ने बहुत उत्साह से किया था।

डा० सर झा के सुपुत्र डा० अमरनाथ झा ने म्योर सेन्ट्रल कॉलेज के डेढ़ सौ छात्रों को वाराणसी ले जाकर हिन्दू विश्वविद्यालय परिसर में प्रभात फेरी लगबाया था। डॉ० अमरनाथ झा की डायरी में ४ फरवरी १९१६ ई० तिथि में यह अंकित है।

डा० सर झा जब काशी के क्वीन्स कॉलेज में पढ़ते थे तब उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में अपनी मित्र मण्डली में सोचते रहे कि कम खर्च बाला एक विश्वविद्यालय की स्थापना यहाँ होनी चाहिए। सम्मान्या एनीबेसेन्ट महोदया के वाराणसी आने पर इन लोगों का चिन्तन सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज के रूप में परिणत हुआ। पश्चात् बी०एच०यू० की स्थापना भी हुई। इस विश्वविद्यालय की स्थापना में सभी स्वनामधन्य सुधियों का तनमनधन से सक्रिय सहयोग मिला। एनीबेसेन्ट, मदन मोहन मालवीय, सर सुन्दरलाल, डा० आदित्य राम भट्टाचार्य, महामहोपाध्याय डा० सर गङ्गानाथ झा, डॉ० भगवानदास तथा डॉ० गोविन्ददास आदि का नाम इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है।

बुभुक्षा पिपासा को भुलाकर डा० सर झा इस विश्वविद्यालय के कार्य में पूर्ण उत्साह से जुट गये थे। डा० सर झा की आत्मकथा से मुझे यह बात ज्ञात हुई। यद्यपि डा० आदित्यराम भट्टाचार्य तथा महामना मालवीय को इनके कार्यकलाप से भ्रम हो गया था कि संस्था के प्रति डा० सर झा की प्रवृत्ति स्वार्थमूलक है तथापि इनकी स्वच्छता कहने के बजाय लिखित रूप में मुखर हो गयी। इन्होंने अधिकारी को लिखकर पत्र भेज दिया कि हिन्दू विश्वविद्यालय में किसी भी वैतनिक पद पर ये कार्य नहीं करेंगे। इस आशय के पत्र देने के बाद विश्वविद्यालय की उन्नति हेतु प्राणपण से डा० सर झा के कार्य करते रहने पर भी महामना मालवीय एवं आदित्यराम भट्टाचार्य के साथ इनके वैमत्य के अवसर पर साध्वी एनी बेसेन्ट तथा सर सुन्दरलाल दोनों पक्षों में सौमनस्य कराते रहे। इससे दोनों पक्षों में सौमनस्य बना रहा करता था।

१९२१ ई० में भारत सरकार ने इनको यूपी में कौन्सिल ऑफ स्टेट का सदस्य नियुक्त किया। इस पद पर रहकर उन्होंने उत्तर प्रदेश को शिक्षा के क्षेत्र में अपने परामर्श से व्यापक लाभ कराया। अनुकूल तथा अनुरूप

शिक्षा का सर्वतोमुख प्रचार हुआ। किन्तु काशी में रहने के कारण इण्डियन थौट का प्रकाशन जो प्रयाग में आरम्भ हुआ था, वह अवरुद्ध हो गया।

१९२३ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के नवीन सङ्गठन होने पर प्रथम भारतीय डा० सर झा कुलपति पद पर निर्वाचित हुए थे। इनके द्वितीय पुत्र डा० अमरनाथ झा की डायरी से ज्ञात होता है कि दो अगस्त १९२३ में इन्होंने कुलपति पद का कार्यभार ग्रहण किया। पुनश्च २३ नवम्बर १९२३ को युनिवर्सिटी कोर्ट में चान्सलर सर विलियम मोरस की अध्यक्षता में पूर्णकालिक कुलपति पद पर इनका विधिवत् निर्वाचन किया गया। इनको अठहत्तर (७८) तथा इनके प्रतिद्वन्द्वी मिस्टर बीयर साहब को (२५) पचीस बोट मिला था। पुनश्च तीसरे बार २९ (उनतीस) नवम्बर उन्नीस सौ उनतीस ई० में (१९२९ ई०) मिस्टर बीयर साहब के साथ डा० सर झा की प्रतिद्वन्द्विता हुई। इस बार कोर्ट की अध्यक्षता चान्सलर हेली साहब कर रहे थे। डा० सर झा को ४० तथा प्रतिपक्षी को (३९) उनतालिस बोट मिला था।

डॉ० सर झा प्रयाग विश्वविद्यालय के कुलपति पद पर लगातार तीन बार १९२३ से १९३२ ई० तक आसीन रहे। इन्होंने अपने कुलपति काल में प्रादेशिक शिक्षा में पर्याप्त परिष्कार किया-करवाया था। विश्वविद्यालय में शैक्षिक एवं प्रशासनिक आदर्श प्रस्तुत किया था। इलाहाबाद का सुधी समाज इनके गुणों से मुग्ध होकर आज भी उनका स्मरण करता है।

डॉ० सर झा स्वभावतः महिला तथा पुरुषों की सहशिक्षा के पक्षधर नहीं थे। इसका ज्वलन्त उदाहरण है प्रसिद्ध कवयित्री महीयसी महादेवी वर्मा का इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी.ए. में (स्नातक कक्षा में) नामाङ्कन नहीं होना। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में नामाङ्कन कराकर उन्होंने उच्च शिक्षा पायी थी। गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठमें जब मैं कार्यरत था ९० ई० के दशक में किसी सभा में आहूत होकर आने पर अपने अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने इस रहस्य का उद्घाटन किया था। उस समय देश की नेत्री राजेन्द्रकुमारी बाजपेयी भी विद्यापीठ के मञ्च पर आसीन थी।

पश्चात् डॉ० सर झा ने स्वयं प्रयास कर महिला महाविद्यालय का स्वतन्त्र रूप से स्थापना करवाया था। इसमें अधिक उम्र वाले सच्चरित्र

अध्यापकगण नियुक्त हुए थे। प्रो० परमानन्द उस समय उस महिला महाविद्यालय के अध्यापन में नियुक्त अध्यापक डा० सर झा के जन्मशतवार्षिकी समारोह के अवसर पर अपने भाषणमें यह बात कही थी। डा० सर झा के प्रियशिष्य प्रो० परमानन्द कुछ दिनों तक गङ्गानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ के प्रशासन से भी हम लोगों के कार्यकाल में संबद्ध रहे हैं।

डा० सर झा के नाम से निर्मित इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्रावास में आज भी केवल गुणी छात्रों को आवास मिलता है।

१९२५ ई० में शास्त्रों में गम्भीर अध्ययन तथा पाण्डित्य की ख्याति देखकर इलाहाबाद विश्वविद्यालय ने इनको एल०एल०डी० की मानद उपाधि से अलङ्कृत कर स्वयं गौरव का अनुभव किया था।



विविध आयाम

सन् १९३२ ई० इनके लिए बहुत बुरा रहा। इस वर्ष में इन्होंने कुलपति पद से अवकाश ग्रहण किया। इस अवसर पर कलाकृति सम्पन्न काठ की मञ्जूषा में मोटे अक्षर वाली भगवद्गीता इनको विश्वविद्यालयों के समानधर्मा अध्यापकों ने उपहृत किया था। इस पुस्तक के अन्त में कुछ पन्ने जोड़कर गीता के चारों चरणों की वर्णानुक्रमसूची तथा विश्वविद्यालय के अध्यापकों का वरीयता क्रम से हस्ताक्षर भी है, जो स्वनामधन्य आदित्यनाथ झा (इनके कनिष्ठ पुत्र) की छोटी पुत्रवधू के पास है और मेरा दृष्ट है।

नियमानुसार इनके पश्चात् एक बार पण्डित इकबाल नारायण गुर्टू इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति हुए थे। इनसे डॉ० सर झा के सुयोग्य पुत्र प्रसिद्ध शिक्षाविद् डॉ० अमरनाथ झा ने (१९३९ ई० में) उक्त विश्वविद्यालय के कुलपति पद का कार्यभार ग्रहण किया था।

इसी वर्ष डा० सर झा की चिररुग्णा धर्मपत्नी का वैकुण्ठवास प्रयाग में हुआ। डा० सर झा की आत्मकथा से ज्ञात होता है कि इस अवसर पर डा० सर झा के तीन बालक डा० भवनाथ झा, डा० अमरनाथ झा तथा पण्डित आदित्यनाथ झा उपस्थित थे। धात्री देवी तथा सीता देवी दो कन्याएँ भी उपस्थित थीं। पण्डित शिवनाथ झा अपने नियोग में बीकानेर में तथा पण्डित विभूतिनाथ झा लहेरियासराय दरभंगा में और तीन कन्याएँ सेवी देवी, देवी देवी तथा शाम्भवी देवी अपने अपने ससुराल में थीं। डा० सर झा के घनिष्ठ मित्र पण्डित गोविन्ददास सपरिवार उस समय उपस्थित थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के प्रो० दमरी ओझा तथा प्रो. दक्षिण भट्टाचार्य भी उपस्थित थे। सब मिलकर हरेराम हरेराम हरे कृष्ण हरेकृष्ण कीर्तन कर रहे थे।

पत्नी के वियोग में मैथिली में सहज स्फुटित कविता को डा० सर झा ने इस प्रकार लिपिबद्ध किया। यह कविता इनके सुखी दाम्पत्य के साक्ष्य के साथ कारुणिक तो है ही भारतीय संस्कार से भी ओतप्रोत है –

पति सन्तान उचारित राम कृष्ण शुभ नाम।
सुनइत शान्ति पुरस्सर त्यागल प्राण ललाम।।१।।

पुत्र पुत्रिका कनइत सभकेँ आशिष देल।
भागवन्ति पति अनुगत परम धाम चलि गेल।।२।।

सेवा अहँक न सकलहुँ कए हम अन्तिम बेरि।
कहइत कानए लागलि नहि किछु बाजलि फेरि।।३।।

नहि कानी अहँ चललहुँ सुन्दर ठाम महान।
जतए भेटत जे सभ गेल जे अछि तकरो ज्ञान।।४।।

सभकेँ त्यागि कतए गेलि कत गेलि प्राण पियारि।
कोन विधि जिवन निवाहब बिनु सहचरि सुकुमारि।।५।।

कतेक मनोरथ बाँटल दुहु मन हर्ष अपार।
संग भए जप तप करइत तरब संगहि संसार।।६।।

से सभ रहल मनहि मन छोड़ि सबहिँ चलि गेलि।
सभक समक्ष पराइलि ललित धाम चलि गेलि।।७।।

जीवन अहँकें सफल भेल सबखन आनन्द कन्द।
सासु पतोहु शिशुक संग रहब सतत आनन्द।।८।।

हमर मनोरथ भंगक जनि करु चितमे खेद।
शीघ्रे आबि मिलब हम जतए फेरि नहि भेद।।९।।

प्रयाग में शरीर छूटने पर इनको मुक्ति अवश्य प्राप्त हुई होगी। कालिदास ने कहा है तथा पुत्र के सान्निध्य में भी मरण होने पर वायु पुराण मोक्ष की सिद्धि कहता है। मिथिला की ऐसी परम्परा रही है कि सौभाग्यवती होकर (पति के रहने पर) शरीर छोड़ने का परिणाम भी बहुत भाग्य की बात मानी जाती है।

जीवन की सान्ध्य बेला में विश्वभर में डा० झा के पाण्डित्य की ख्याति सुनकर तात्कालिक भारत के शासक ने १९४१ के जनवरी में सर्वोच्च सम्मान

नाइटहुड (सर) उपाधि से विभूषित किया। इनके भागिनेय आचार्य रमानाथ झा ने कहा है कि भारत सरकार ने इनका वैदुष्य देखकर महामहोपाध्याय पदवी तथा विश्वभर में उसका प्रसार देखकर 'सर' पदवी नाइटहुड दिया। जो केवल इन्हीं को उपलब्ध था। एक भी महामहोपाध्याय 'सर' नहीं हुए एवं एक भी सर महामहोपाध्याय नहीं हुए थे। इसी वर्ष अग्रहण कृष्ण षष्ठी तिथि को तदनुसार १७।११।४१ ई० को सत्तर वर्ष के वयस में इनका स्वर्गवास हो गया। मीमांसा कुसुमाञ्जलि के आरम्भ में (जो पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेस के साथ प्रकाशित है) महामहोपाध्याय डा० उमेश मिश्र ने (डॉ० सर झा के गुरुपुत्र एवं शिष्य ने) इनके जन्म तथा मृत्यु के स्थान और समय के साथ शिक्षा का विवरण तीन पद्यों में इस प्रकार दिया है।

शाके त्र्यङ्कसमुद्रचन्द्रलसिते मासे नभस्येऽधिके
पक्षे शौक्ल्ययुते जगद्धितकरे पूर्णेन्दुसंज्ञे तिथौ।
गायत्रीसमुपासनेन सकलं देशं समुद्दीपयन्
गङ्गानाथमजीजनत् सुतवरं श्रीतीर्थनाथो द्विजः।।

लब्ध्वा जन्म सुगन्धिवारिनगरे देशे विदेहप्रभोः
गङ्गानाथमहाशयः सुकृतिनां सच्छ्रोत्रियाणां कुले।
काशीं प्राप्य दिगन्तविश्रुतगुरोरभ्यस्य शास्त्राणि यः
पाण्डित्येन मनोहरेण बहुलामादाय कीर्तिं पराम्।।

शाके बह्निरसाष्टभूमिसहिते मार्गे दले श्यामले
षष्ठ्यां सूर्यदिने निशीथसमये पद्मासने संस्थितः।
लीलां तीर्थपतौ प्रयागनगरे संहृत्य तां लौकिकीं
यातोऽस्मान् स्वजनान् विहाय रुदतो देवान् पुनः सेवितम्।।

(१७९३ शाके तदनुसार २५।९।१८७१ ई० के भाद्रपूर्णिमा को गायत्री की उपासना से सम्पूर्ण देश को ही निर्मल करने वाले तीर्थनाथ झा ने अपने विद्वान् बालक गङ्गानाथ का जन्म दिया। धार्मिक श्रोत्रिय एवं पुण्यात्मा के कुल में मिथिला के गन्धवारिनामक गाँव में जहाँ इनके मातामह महाराज कुमार बाबू वासुदेव सिंह का (महाराज छत्र सिंह के पुत्र एवं मिथिलेश माधवसिंह के पौत्र का) आवास था – वहीं इनका जन्म हुआ था। ये काशी आकर जगद्विख्यात

गुरुओं से शास्त्रों का अध्ययन किया। इन्होंने विलक्षण पाण्डित्य पाकर बहुत कीर्ति अर्जित की।

शाके १८६३ तदनुसार १९४१ ई० १७ नवम्बर के अग्रहण कृष्ण षष्ठी तिथि को रवि के दिन अधिक रात में तीर्थराज प्रयाग में लौकिक लीला को समेट कर देवता की सेवा करने हेतु आत्मीयजन हम लोगों को रोते हुए छोड़कर स्वर्ग चले गये।)

नामकरण संस्कार के अवसर पर दूर्वा और मधु से जन्मकुण्डली के अनुसार जो नाम ओठ पर लिखा जाता है वह नाम डॉ० सर झा का दुर्गानाथ था। मिथिला में पुकार का नाम और राशि का नाम भिन्न भिन्न होते हैं। इनके द्वितीय पुत्र प्रसिद्ध शिक्षाविद् अमरनाथ झा ने दशकुमारचरित के अष्टम उच्छ्वास विश्रुतचरित की संस्कृत में व्याख्या लिखी है, जो प्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ की तरह व्याख्यात है, वह व्याख्या लेखक ने इसी राशिनाम का उपयोग कर अपने पिता तथा उपनयन के समय जो आचार्य गुरु हुए थे उस ताऊ को पण्डित विन्ध्यनाथ झा को तथा माता को समर्पित किया है। व्याख्याकार के रूप अपने राशिनाम भवानी नाथ का ही उपयोग किया है।

दुर्गानाथस्य तातस्य टीकानाथगुरोस्तथा।
मातुः दुर्गालतादेव्याः पादयोरिदमर्पितम्।।

यह समर्पण भी इन्होंने अपने पिता के द्वारा शोध प्रबन्ध में किया गया समर्पण की तरह ही किया है। पिता ने माता पिता के साथ अपने अभिभावक शुभचिन्तक मिथिलेश लक्ष्मीश्वर सिंह को किया है। इन्होंने आचार्य गुरु पिता के अग्रज तथा मातापिता को समर्पित किया है। यह व्याख्या लेखक जब १७ वर्ष के थे तब १९१४ ई० में बेलवेडियर प्रेस से मुद्रित हुई थी। मेरा दृष्ट है यह ग्रन्थ।

डा० सर झा ने अपने डायरीनुमा नोटबुक में अपने सभी भाई बहनों का तथा अपनी सन्ततियों का (पुत्र, पौत्र तथा दौहित्र आदि का) राशिनाम तथा पुकारनाम १९३९ ई० तक का लिखकर रखा था, इसी प्रकार पूर्वजों के स्वर्गवास तिथि भी अंकित कर रक्खा था। मुझे उनकी छोटी पुत्रवधू श्रीमती आद्या झा पद्मश्री से प्राप्त हुआ था। मेरे सम्मान्य तथा डा० सर झा के आप्त

संबन्धिक को मैंने सुरक्षा के लिए वह नोट बुक दिया था। आवास बदलते रहने में मुझसे प्रमादवश उसके खो जाने का भय था। अत एव अमूल्य समझकर उनको अमानत के रूप में दिया। किन्तु अवसर पर इस ग्रन्थ के लिखते समय अन्वेषण करने पर ज्ञात हुआ कि वह उनसे भुला गया।

डा० सर झा के स्वर्गवास होने पर इनके सुयोग्य उत्तराधिकारी पुत्रों ने तत्काल दो कार्य किये। इनके स्वर्गवास की सूचना प्रेस को तथा कलक्टर को देकर तात्कालिक आवश्यक कृत्य के सम्पादन में लग गये। इनकी छोटी पुत्रवधू श्रीमती आद्या झा पद्मश्री ने वार्ताक्रम में मुझसे यह बात कही थी। इसका निहित आशय यह था कि समाचारपत्र पढ़कर डा० सर झा के शुभचिन्तक मित्र तथा शिष्य स्वयं आ जायेंगे तथा कलक्टर साहब नाइटहुड प्राप्ति के सम्मान में सलामी दिलाने की व्यवस्था करेंगे।

स्वर्गवास से एकाध माह पूर्व डॉ० सर झा ने अपने बालकों को निकट बुलाकर कहा कि मैं तीर्थ पुरोहितों को तथा विपन्न छात्रों को प्रतिवर्ष कुछ अर्थ साहाय्य करता था। उन सब को देय राशि का बीस गुना राशि भेजकर पत्र लिख दीजिए कि आगे हम नहीं दे सकेंगे। धर्मशास्त्र में इस प्रकार के कार्य के समापन का यह नियम निर्दिष्ट है।

दूसरी बात यह है कि आपकी माँ की इच्छा थी कि चल तथा अचल सम्पत्ति सभी भाइबहनों को बराबर भाग में बाँट दिया जाए। अचल सम्पत्ति की ऐसी व्यवस्था मैं नहीं कर सका। अगर आप सभी भाइओं की इसमें सहमति हो तो इस तरह का कागज बनवाकर इसकी व्यवस्था करिए और हमसे हस्ताक्षर करवा लीजिये। इस पर सभी भाइयों ने सहमति दी तथा विचार किया कि पण्डित अर्थात् आदित्यनाथ झा शीघ्र इस आशय का कागज तैयार करें और उसका अविलम्ब कार्यान्वयन हो। इस विचार का आलेख राष्ट्रपति सम्मानित पण्डित दुर्गाधर झा (डा० सर झा के छोटे दामाद) का लिखा हुआ मुझे सम्मान्या स्व० आद्या झा पद्मश्री ने दिया था। मैंने अतिसुरक्षा की दृष्टि से उसी महानुभाव को दिया, जिनको डा० सर झा का नोटबुक दिया था। मेरे कार्य के अवसर पर यह भी अदर्शनं लोपः हो गया। तथापि डॉ. सर झा की लड़की से ज्ञात हुआ कि पैतृक चल सम्पत्ति का बराबर भाग उनके दशों सन्तानों को जीवन भर मिलता रहा।

जब डॉ० सर झा के पुत्र आई.ए.एस. के प्रशिक्षण हेतु विलायत में थे और इनको अपने आसन्न मरण का आभास होने लगा था तो अपने घर में विद्यमान लक्ष्मीपति कृत श्राद्ध पद्धति के मुखपत्र पर इन्होंने लिख दिया था कि मेरी मृत्यु का समाचार सुनकर स्वदेश आकर श्राद्ध में सम्मिलित होना तथा अपने पॉकिट से अर्थात् स्वार्जित धन से यथासाध्य कुछ धन बड़े भाई (श्राद्धकर्ता) को देना श्राद्ध में व्यय हेतु और श्राद्ध देखना। यदि यह अपरिहार्य कारणवश संभव नहीं हो तो मधु गोघृत तथा सूखा मेवा लेकर किसी जलाशय के पास जाना (सरोवर, नदी का तट या झरना आदि के पास जाना) कुश के अभाव में दूर्वा का उपयोग करना, काला तिल और दूर्वा लेकर पिण्डदान करना। इतना संस्कृत आप लोग जानते हो कि विनियोग समझ में आ जाएगा और मन्त्र को मैंने लाल पेन्सिल से रेखाङ्कित कर दिया है।

यदि शास्त्र सत्य है तो यह नहीं करने पर पितर की गति नहीं होगी, शास्त्र के अनुसार कर्तव्य की च्युति होगी और समाज में वचनीयता होगी। यह पद्धति मैंने उनके घर में देखी थी, जो मैंने सम्मान्य प्रो. श्री हेतुकर झा को तब दिलवाया था जब ये डा. आदित्यनाथ झा के कनिष्ठ पुत्र से इनके घर के कुछ पुस्तकें क्रय करने हेतु प्रयाग गये थे।

यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि पूर्वजन्म की तपस्या, देवता का प्रसाद, गुरुजनों का आशीर्वाद तथा भारतीय विद्या के प्रति नैसर्गिक अनुराग से ही इस प्रकार का अन्तःप्रज्ञ होना, प्रतिष्ठा के शिखर पर पहुँचना, निर्मल यश की प्राप्ति तथा शिष्य वृन्द और समानधर्मा वर्ग का प्रिय होना संभव है।

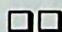
डा० सर झा का स्वभाव था कि समय को बाँटकर कार्य करते थे। **का हानिः समयच्युतिः** को हृदय में रखकर कुल परम्परा से प्राप्त धार्मिक अनुष्ठान, शास्त्र का अध्ययन, अध्यापन, लेखन तथा प्रशासनिक कार्यों का सम्पादन धीरता से निरलस होकर करते थे। पारिवारिक दायित्व का निर्वाह, अतिथि सत्कार तथा मनोविनोद के लिए भी समय विभक्त था। संकल्प की दृढ़ता तथा उसका कार्यान्वयन करना ही इनको उन्नति के शिखर पर पहुँचाया। जिस कार्य को इन्होंने ठान लिया वह कार्य संपन्न करने के बाद ही विश्राम करते थे। **आलस्यो हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः** सूक्ति सतत इनके ध्यान पर रहती थी। इनके शिष्यों से सुना है कि इस तरह के आचरण से इनको

मनः प्रसाद होता था। आरब्धस्यान्तगमनं इनके स्वभाव में बसता था। कल के भरोसे किसी कार्य को इन्होंने कभी नहीं रक्खा। स्वः कार्यमद्य कुर्वीत सूक्ति में इनका दृढ़ विश्वास था। पत्र मिलने पर यदि उत्तर की अपेक्षा होती तो तत्काल उत्तर लिखकर पोस्ट करवा देते थे।

इन्होंने प्रशासन के किसी फाइल को कभी भी लम्बित नहीं रक्खा। वह चाहे राजदरभंगा के पुस्तकालय के अध्यक्षपद हो, काशी के प्रिन्सिपल पद हो तथा प्रयाग का कुलपति पद हो, सभी पद उत्तरदायित्वपूर्ण थे। उन सब कार्यों का सफलतापूर्वक सम्पादन कर पद की गरिमा को सतत इन्होंने अक्षुण्ण रक्खा।

उनके समय में कुलपति को फाइल देखने के लिए अधिक काल तक रहने की आवश्यकता नहीं होती थी। अधिक फाइल का कार्य कुलसचिव करते थे। अत एव कुलपति होकर भी संस्कृत के बी०ए० तथा एम०ए० की कक्षाओं में अध्यापन नियमित रूप से ये करते थे। इन्होंने यद्यपि स्वयं अध्यापन तथा अनुसन्धान के साथ ग्रन्थ लेखन में निरन्तर लगे रहते थे किन्तु अपने प्रिय शिष्य प्रो० वी०पी० सक्सेना (इलाहाबाद विश्वविद्यालय) से कहा था कि अध्यापन को प्राथमिकता देनी चाहिए अनुसन्धान एवं ग्रन्थलेखन द्वितीय कोटि का सारस्वत अनुष्ठान है। विद्यापीठ में बीसवीं सदी के अस्सी के दशक में भाषण के क्रम में उन्हीं के श्रीमुख से मुझे यह बात श्रुत है।

अपने भाइयों के साथ प्रतिदिन पारस्परिक पत्राचार इनका चलता था। पारिवारिक कुशल समाचार एवं नवीन वार्ता से अवगत होते रहते थे। अत एव समाचार पत्र की तरह इनको पत्र की प्रतीक्षा रहती थी।



प्रतिभा प्रकर्ष

अठारह वर्ष की उम्र से डा० सर झा ग्रन्थ के अनुवाद, सम्पादन तथा लेखन में लगे रहे जब ये विद्यार्थी थे। आज के अधीत विषय का आज ही अंग्रेजी में अनुवाद कर लेने का इनका नियम जैसा था। उस समय में परीक्षा में संस्कृत विषयक प्रश्नों का भी अंग्रेजी में उत्तर लिखने की परिपाटी थी। अनुवाद के समय में ग्रन्थ के अभिप्राय का ज्ञान नहीं रहने पर अनुवाद हो ही नहीं सकता था। तीसरी बात यह थी कि अनुवाद करने पर विषय हृदयङ्गम हो जाते थे। इन विलक्षण गुणों के आकर्षण से इन नियमों के अनुपालन में कभी कभी इनको देर रात तक जागना पड़ता था। इससे इनको खेद नहीं मनस्तुष्टि तथा मनः प्रसाद होता था। कभी कभी इनको इस कार्य में फुलस्केप साइज के सत्तर अस्सी पृष्ठों तक लिखना पड़ता था। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त, सांख्य, योग, बौद्ध दर्शन, अलङ्कार शास्त्र तथा धर्मशास्त्र के प्रमुख प्रमुख ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद, मूलग्रन्थों का सम्पादन, मौलिक ग्रन्थों तथा निबन्धों के लेखन और मूल ग्रन्थों की संस्कृत व्याख्या पचास से अधिक इनके द्वारा किये गये प्रकाशित हैं। इनकी सभी कृतियों का विवरण यहाँ परिशिष्ट एक (१) में विशदता के साथ दी गयी।

डा० सर झा के समय में भारत भर में पुस्तक पढ़ने की परिपाटी थी कि सुधीजन या शिष्यवर्ग पुस्तक की बन्धनी तोड़कर बीच में सादा कागज प्रत्येक पत्र के साथ लगाकर पुनः बन्धनी देकर पढ़ते थे और पढ़ते समय महत्त्वपूर्ण विषय या टिप्पणी उस सादा कागज पर लिखकर रखते थे। इसी प्रकार हस्तलेख ग्रन्थ में भी सादा कागज लगाकर महत्त्वपूर्ण विषय या टिप्पणी लिख ली जाती थी। इसी को क्रोड़पत्र या विवेचना नाम से सुधीजन कहते थे। ग्रन्थ के मध्य में किसी किसी विशेष पंक्ति का परिष्कृत अर्थ या संबद्ध विषय पर पूर्वपक्ष

एवं उत्तर पक्ष के रूप में अनेक कोटियाँ उठाकर लिपिबद्ध किया जाता था। इसका समय समय पर अध्यापन एवं शास्त्रार्थ में उपयोग किया जाता था। विशिष्ट पण्डित अपने मेधावी शिष्यों को यह विवेचना सिखा देते थे। चूंकि दूसरे प्रतिवादी (अन्य गुरु के विद्यार्थी) को इस विवेचना से परिचय नहीं रहता था अत एव विवेचना से अभिज्ञ व्यक्ति विजयश्री का लाभ कर लेते थे। यही क्रोड़पत्र या विवेचना कालीशंकरी, चन्द्रनारायणी, बलदेवी गोलोकनाथी तथा तत्त्वालोक आदि प्रकाशित होने पर अधिकारी विद्वान् को प्राप्त हो रहा है। किन्तु किसी विशेष गुरु का अप्रकाशित क्रोडपत्र केवल उनके छात्र तक ही सीमित रहता था। क्रोडपत्रगत क्रोड पद गोद (शरीर का मध्य भाग) का वाचक है। ग्रन्थ के किसी पत्र में मध्यगत पंक्ति का विस्तृत एवं विशद विशेष चिन्तन रहने से वह क्रोडपत्र नाम से अभिहित होता है।

कथा के प्रसङ्ग से मेरे पितृचरण पण्डित कृष्णमाधव झा ने इसका एक उदाहरण अपने किसी शिष्य को इस प्रकार समझाया था। काशी में राजदरभङ्गा की महारानी (मिथिलेश लक्ष्मीश्वर सिंह की धर्मपत्नी) लक्ष्मीवती के आवास पर बीसवीं शताब्दी के तीस के दशक में शास्त्रार्थ का आयोजन किया गया था। महामहोपाध्याय जयदेव मिश्र की विजया व्याख्या के आधार पर म०म० मिश्र के किसी प्रिय शिष्य द्वारा (प्रायः विद्वद्वर राजनारायण शुक्ल द्वारा) परिभाषेन्दुशेखर की **'कार्यमनुभवन् ही कार्यी निमित्ततया नाश्रीयते'** परिभाषा पर पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया गया था। इस परिभाषा में पक्ष, हेतु तथा साध्य आदि का विचार रहने से नैयायिक का भी अधिकार हो जाता है। महामहोपाध्याय मिश्र के प्रिय शिष्य पण्डित मार्कण्डेय मिश्र ने अपने शिष्य मेरे पितृचरण से उत्तर पक्ष के आसन पर बैठने की आज्ञा की। इनको इस परिभाषा को पढ़ाते समय विजया से भिन्न बातें नव्यन्याय के पक्षता प्रकरण की विशद परिष्कार गुरु ने पढ़ाया था और परिभाषा के पक्ष पदार्थ को अच्छी तरह समझा दिया था। यह बात अन्य छात्र को ज्ञात नहीं थी। यद्यपि नव्यन्याय के विद्यार्थी के लिए यह विषय सरल एवं साधारण था। इन्होंने पूर्वपक्ष का अनुवाद करके प्रतिप्रश्न कर दिया कि पक्षता का लक्षण क्या है और यहाँ उसका कैसे लक्षणसमन्वय होता है। पूर्वपक्षी चिन्तन की मुद्रा में कुछ देर मौन हो गया। म०म० जयदेव मिश्र ने रोष में आकर कहा कि उत्तरपक्षी ही इस प्रतिप्रश्न का समाधान कहें। पितृचरण को

सद्यः पठित रहने से इन्होंने अनायास तुरत उत्तर कह दिया। म०म० मिश्र जी ने पितृचरण से पूछा कि यह उत्तर आपका किसने सिखाया। पण्डित मार्कण्डेय मिश्र का नाम कहने पर मार्कण्डेय मिश्रजी से म०म० मिश्र ने कहा कि मार्कण्डेय बाबू आप क्या क्या सिखा देते हैं विद्यार्थी को, विजया का शास्त्रार्थ ही नहीं होने देते हैं। उस दिन पितृचरण को विजेता का पारितोषिक तो मिला किन्तु म०म० जयदेव मिश्र इन पर बहुत दिनों तक नाराज रहे।

मेरे पितृचरण के गुरु मार्कण्डेय मिश्र का कहना था कि शास्त्रीय पदार्थ के विवेचन में नवीन चिन्तन का आधार इसी प्रकार शास्त्रार्थ के समय बनता है। ऐसी स्थिति में नवचिन्तन की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए अपितु उत्साह से युक्ति एवं प्रमाण के आधार पर नया उद्भावन का सम्मान करना चाहिए। जिस विषय में न्याय एवं व्याकरण का समान अधिकार होगा वहाँ स्वाभाविक है कि उक्त दोनों शास्त्रों के सुधी को चिन्तन का अधिकार होगा ही।

डा० सर झा के समय में महामहोपाध्याय गंगाधर शास्त्री का सम्पादित न्यायभाष्य उपलब्ध था। उसमें अप्रकाशित वार्त्तिक तथा तात्पर्यटीका का संबद्ध अंश स्थान स्थान पर टिप्पणी में देकर न्यायभाष्य के अभिप्राय का परिष्कार किया गया था। डा० सर झा ने इसकी बन्धनी को तोड़कर सादा कागज लगाया था और उसमें स्वयं टिप्पणी लिखी थी। यह पुस्तक चि० अमल कुमार झा के (डॉ० सर झा के अनुज वैद्यनाथ झा के प्रपौत्र के) घर में मेरा दृष्ट है।

मेरे सुपरिचित डॉ० सर झा के पाँच शिष्यों को सारस्वत समाज में असाधारण ख्याति मिली। यथा प्रो० क्षेत्रेश चन्द्र चट्टोपाध्याय, प्रो० बाबूराम सक्सेना, म०म० डा० उमेश मिश्र, प्रो० धीरेन्द्र वर्मा तथा प्रो० रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री। इन महानुभावों ने अध्यापन, अनुसन्धान तथा ग्रन्थ लेखन के द्वारा इलाहाबाद विश्वविद्यालय के गौरव को तो बढ़ाया ही देश एवं विदेश में भी अपने पाण्डित्य का ध्वज लहराया। इन लोगों के शिष्य प्रशिष्य कृतविद्य होकर देश विदेश में फैले हुए हैं। फलितार्थ यह हुआ कि डा० सर झा का विद्यावंश छह सात पुस्त तक वर्तमान वर्धमान है।

डा० सर झा के जीवन में सादा जीवन उच्च विचार का स्थान था। यह इनके शिष्य वर्ग के मुख से कतिधा सुनने का सौभाग्य हुआ। इनसे मिलने के लिए न तो परिचयपत्र या पुर्जा भेजने की आवश्यकता होती थी न ही इत्तिला देना पड़ता था। बाहर वराण्डा पर पढ़ते लिखते रहने के कारण अनायास ही इनका दर्शन किसी को हो जाता था। मिलने वालों की बात सुनकर समुचित उत्तर दे देते थे। अपने प्रारब्धकार्य में पुनः लग जाते थे। स्वभाव से मितभाषी रहने के कारण अनावश्यक बातें इनके निकट प्रश्रय नहीं पाती थी। इससे इनके समयबद्ध कार्य में बाधा नहीं होती थी। ब्राह्ममुहूर्त में उठकर नित्यकृत्य तथा देवपितृ कर्म सम्पादन के बाद डा० सर झा आवास में बाहर के वराण्डा पर बैठकर लिखने पढ़ने का काम आरम्भ कर देते थे। दश बजे विश्वविद्यालय जाकर पूर्वाह्न में ही वहाँ प्रशासनिक कार्य सम्पन्न कर भोजन विश्राम के लिए एक बजे तक घर लौट जाते थे। पुनः दोपहर के बाद लेखन पठन इनका चलता था। संध्या का समय मनोविनोद के लिए होता था। घर के छोटे छोटे बच्चों से भी ये रुचिपूर्वक बातेँ करते थे।

पूर्व में भी कहा गया है कि दिन में गुरुमुख किया गया पाठ उसी दिन अंग्रेजी में अनुवाद कर लिया करते थे। लिखने का इनको व्यसन जैसा था। १९२७ ई० में पटना विश्वविद्यालय में रामदीनव्याख्यानमाला के अन्तर्गत व्याख्यान के लिए आहूत होने पर इन्होंने कहा था कि मैंने लाखों पन्नों के मुख काला किया है। जीवन के अन्तिम क्षण तक इनका लेखन चलता रहा। अत एव इनके दिवङ्गत होने के पश्चात् 'पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेस' इनके ग्रन्थ का बनारस हिन्दूविश्वविद्यालय से प्रकाशन हुआ। गंभीर शास्त्रीय सिद्धान्तों की विशद व्याख्या कर उपस्थापन करने का कौशल इनको प्राप्त था। अत एव अंग्रेजी भाषा में अनेक भारतीय दर्शन के आकर ग्रन्थों का अनुवाद कर इन्होंने क्रोश स्तम्भ (माइलस्टोन) स्थापित किया। शास्त्र के अभिज्ञ के लिए भी जिसका अभिप्राय समझना कठिन होता था, उसका भाषान्तर में कहने तथा लिखने के समय क्या कठिनता होती है वह समानधर्मा ही समझ सकता है। दोनों भाषाओं पर (मूल संस्कृत तथा अनुवाद की भाषा अंग्रेजी पर) समान अधिकार रहने पर एक भाषा के वाक्य का दूसरी भाषा में वाक्य विन्यास किया जा सकता है। मूलग्रन्थ की शैली को ध्यान में रखकर गूढ़ से गूढ़ विषय

को सुस्पष्ट रूप से सरल भाषा में प्रस्तुत करना इनकी लोकोत्तर प्रतिभा से ही संभव हुआ। इनके अनुवाद से मूलग्रन्थ का अभिप्राय जिज्ञासु विद्वान् को सदैव हृदयग्राही हुआ।

इनके सारस्वत अवदान को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है (१) उपादेय तथा दुर्लभ भारतीय दर्शन के ग्रन्थों का सामीक्षिक सम्पादन एवं प्रकाशन। (२) भारतीय दर्शन (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त तथा बौद्धदर्शन के साथ अलङ्कारशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद तथा (३) मौलिक चिन्तन परक व्याख्यान एवं ग्रन्थों का प्रणयन।

इण्डियन थॉट तथा पण्डित पत्रिका में इनके तीनों प्रकारों के ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। इनके परवर्ती उत्तर साधक अनुसन्धातावर्ग को इसका प्रभूत सुफल मिल रहा है। इनकी तरह किसी संस्था के हस्तलेख ग्रन्थ के बाण्डिल संख्या तथा हस्तलेख की पृष्ठ संख्या के स्थान पर अब प्रकाशित पुस्तक की पृष्ठ संख्या एवं संस्करण लिखकर पादटिप्पण में देने से कार्य सुलभ हो गया।

मेरी धारणा है कि वैज्ञानिक पद्धति से भारतीय विद्या के अध्ययन अनुसन्धान का आरंभ डॉ० सर झा के समय में ही हुआ था। अभिप्राय यह है कि किसी ग्रन्थ की मूलपंक्ति के अर्थ का अभ्यास करना पर्याप्त नहीं माना जाता था। अपितु ग्रन्थ में समागत पूर्वपक्ष किसका है, सिद्धान्त पक्ष क्या है, वह सिद्धान्तपक्ष युक्ति, प्रमाण तथा प्रकरण से संगत है या नहीं, ग्रन्थ में किये गये विषयों के वर्गीकरण में कहीं प्रतिपाद्य का व्याघात तो नहीं होता है, उद्धरण किस ग्रन्थ से लिया गया है, प्रतिपाद्य का मूल उद्भव स्रोत कहाँ है, रचना का देश तथा काल अन्तः साक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य के आधार पर क्या है एवं लेखक के पाण्डित्य परिचय आदि का अन्वेषण आकलन आदि का विचार वैज्ञानिक पद्धति है। किसी मत के निराकरण में धूली प्रक्षेप हुआ है अथवा स्वमान्य सिद्धान्त से वैपरीत्य के कारण हुआ है आदि का साङ्गोपाङ्ग विचार प्रतिभा, मनः अवधान तथा बहुश्रुतता के साथ तद्विद्यसम्भाषा से होता है।

पारम्परिक अध्ययन से शास्त्रस्वरूप समुद्र के अवगाहन करने पर ग्रन्थ के प्रतिपाद्य सिद्धान्त का परिज्ञान तो होता है किन्तु वैज्ञानिक पद्धति से शास्त्र समुद्र में डुबकी लगाने पर विचाररत्न राशि को बाहर किया जा सकता है। शास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन तो प्राचीन समय में खूब प्रचलित था।

ग्रन्थस्थ पंक्ति पर अध्यापक वृन्द द्वारा प्रतिस्पर्धा में विचार की कोटि पर कोटि प्रस्तुत कर क्रोड़पत्र (विवेचना) करके चिन्तन को आगे बढ़ाते रहे किन्तु ग्रन्थ के लेखक कौन है, पुस्तक का वैशिष्ट्य क्या है, कब कहाँ क्यों यह लिखा गया आदि का अनुचिन्तन अध्यापक शिष्यों को नहीं कराते थे। पारम्परिक अध्ययन-अध्यापन में इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता था। अत एव परम्परा से पढ़ने पढ़ाने वाले वृद्ध विद्वद्वृन्द की दृष्टि में नवीन पद्धति से पढ़ने पढ़ाने वाले सुधीजन हीन समझे जाते थे। वैज्ञानिक दृष्टि से पढ़ाने वाले को अंग्रेजिया पण्डित या भूमिका पण्डित कहा जाता था। डा० सर गंगानाथ झा ने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा में लिखा है कि रघूत्तम कृत न्यायभाष्य की व्याख्या के सम्पादन के साथ न्यायभाष्य की स्वकृत व्याख्या खद्योत तथा मीमांसानुक्रमणिका की स्वकृत व्याख्या मीमांसामण्डन के प्रकाशन से इन ग्रन्थों को देखकर पारम्परिक वृद्ध विद्वान् भी इनको यथार्थ पण्डित मानने लगे थे। अन्यथा उस गोष्ठी में यही चर्चा होती थी कि ये ग्रन्थ की भूमिका लिखने में दक्ष हैं इनको ग्रन्थ का यथार्थतः गम्भीर ज्ञान नहीं है, पल्लवग्राहिता है इनमें।

पदार्थ की अभिज्ञता रहने पर भी नवीन पद्धति से पढ़ने वाले डॉ० सर झा प्रभृति पण्डित सभा में शास्त्रार्थ की कोटि पर कोटि नहीं उठा सकते थे। अतः इनके समय में शास्त्रार्थ की वह परम्परा ह्रासोन्मुख होने लगी। वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन-अध्यापन अधिक होने लगे। संपूर्ण भारत में इस दृष्टि का प्रसार हुआ केवल शास्त्र का निहितार्थ अभ्यास कर न तो जिज्ञासा शान्त होती थी न ही सन्तुष्टि होती थी। फलतः शास्त्र की गम्भीरता तथा विशालता के परिचय के साथ, देश काल तथा लेखन के उद्देश्य और ग्रन्थकार का परिचय आदि अपेक्षित माना जाने लगा। इस ओर विद्वानों का ध्यान अधिक गया। ट्रेडशिनल स्कौलरशिप एण्ड मोडर्न टेकनीक (पारम्परिक पाण्डित्य और आधुनिक आलोचना पद्धति) का उद्घोष हुआ।

यद्यपि संबन्ध, अधिकारी, विषय तथा प्रयोजन रूप चार अनुबन्ध का उल्लेख भारतीय शास्त्र की लघुतम कृति में भी आरम्भ में ही कर दी जाती है। इसके बिना ग्रन्थ का आरंभ अर्थात् मंगलाचरण भी नहीं किया जाता है।

संबन्धश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम्।
विनानुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं न प्रशस्यते।।

प्राचीन काल से ही भारतीय विद्या में किसी ग्रन्थ के लिखने की तथा तात्पर्य समझने की प्रक्रिया तन्त्रयुक्ति नाम से अभिहित है। इस तन्त्रयुक्ति की चर्चा प्राचीनतम आयुर्वेद ग्रन्थ चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता में तथा अन्यत्र उपलब्ध है। तेरहवीं शताब्दी में नीलमेघ नामक किसी आचार्य ने इस पर स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना भी की है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के उपसंहार में कहा है कि मैंने तन्त्रयुक्ति के आधार पर अपना इस ग्रन्थ का प्रणयन किया है, अतः यह उपेक्षणीय नहीं है। महाभारत के सुलभाजनक संवाद में वचन के गुणदोष का विवेचन हुआ है। अत एव (टेकनीक) पद्धति को आधुनिक मानने में विचार अपेक्षित है। भारतीय चिन्तक चिन्तन की प्रक्रिया हेतु चिरकाल से दृष्टिसंपन्न एवं जागरूक रहे हैं। संभव है अंग्रेजी शासन के समय में शास्त्रार्थ परिपाटी के अधिक प्रचार प्रसार रहने से तन्त्रयुक्ति की ओर से सुधीजनों का ध्यान हट गया हो। मीमांसा की वाक्यार्थबोध हेतु व्याख्या प्रक्रिया तथा प्राचीन न्याय की पदार्थ चिन्तन पद्धति में तन्त्रयुक्ति का पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है।

चूंकि डा० सर झा के समय में ही भारतीय विद्या में अनुसन्धान का क्रम आरम्भ हुआ था अतः एक ही विषय का अनुसन्धान भारत के अनेक प्रान्तों में अनेक विद्वान् रिपीटेसन नहीं करें तथा किस शास्त्र में कहाँ किस प्रकार का अनुसन्धान कौन कर रहा है, कौन से सुधी शास्त्र की किस दिशा में अग्रसर हैं आदि के परिज्ञान हेतु तथा विद्यानुसन्धान के परस्पर आदान प्रदान हेतु एवं अनुसन्धान की दशादिशा के निर्धारण हेतु डॉ० सर झा के समय में वरिष्ठ विद्वज्जन परस्पर विचारविमर्श कर डॉ० आर०जी० भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट के संस्थापक सदस्यों ने अखिलभारतीय प्राच्यविद्यामहासम्मेलन की १९१८ ई० में स्थापना की। पुण्य श्लोक रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर तथा कुप्पू स्वामीशास्त्री आदि अनेक विद्वद्वृन्द के साथ डॉ० सर गङ्गानाथ झा भी इसमें विचारक थे। इस महासम्मेलन के माध्यम से सम्पूर्ण भारत के अनुसन्धान निरत विद्वानों को एक सूत्रों में बँधकर एक मञ्च पर लाने का स्तुत्य प्रयास किया गया। इसका पहला अधिवेशन पूना में प्रो० आर०जी० भण्डारकर की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। दूसरा नागपुर में और तीसरा (मद्रास) चेन्नई में हुआ। चेन्नई अधिवेशन में १९२४ ई० में डॉ० सर झा प्रधान अध्यक्ष थे।

इन्हीं के समय में प्राचीन एवं उपादेय ग्रन्थों का सामीक्षिक संपादन आरम्भ हुआ। इसका उदाहरण इनके सम्पादित मनुस्मृति का मेधातिथि भाष्य है। यहाँ परिशुद्ध पाठ की प्रस्तुति के साथ तीन प्रकार की टिप्पणी–पाठभेद सम्बन्धी, तुलनात्मक तथा व्याख्यात्मक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में भूमिका के साथ प्रकाशित है। पश्चात् इसका अंग्रेजी अनुवाद करके भी इन्होंने प्रकाशित किया।

भारतीय मान्यता है कि जीर्णोद्धार से पुण्यार्जन होता है। मूल लेखन, नया मन्दिर आदि का निर्माण, धर्मशाला, कूप तथा तड़ाग के नव निर्माण से सौ गुना अधिक इस तरह के जीर्ण (पुराना भग्न मन्दिर आदि) के पुनर्निर्माण से पुण्य मिलता है –

मूलाच्छतगुणं पुण्यं प्राप्नुयात् जीर्णकारकः।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन जीर्णस्योद्धारमाचरेत्।।

मौलिक ग्रन्थ लेखन की अपेक्षा पुरातन कृतियों का सामीक्षिक सम्पादन का अधिक महत्त्व माना गया है। इस क्रम में डॉ० सर झा ने मनुस्मृति के मेधातिथि भाष्य के साथ लगभग बीस उपादेय ग्रन्थों का संपादन किया, जो हम लोगों को उपलब्ध है।

इनकी मौलिक कृतियों में चिन्तन की अपूर्वता, प्रतिपादन की विशदता अत एव प्रतिपाद्य की सुस्पष्टता तथा भाषा की सरलता एवं अनुरूपता मिलती है।

न्यायभाष्य की इनके द्वारा की गयी व्याख्या 'खद्योत' आज से ८०–८५ वर्ष पहले प्रकाशित हुई। तब तक वार्त्तिक, तात्पर्यटीका तथा परिशुद्धि का प्रकाशन नहीं हुआ था। हाल में इन ग्रन्थों का सम्पूर्ण रूप से प्रकाशन हुआ है। अत एव डॉ० सर झा ने अपनी व्याख्या में अभिप्राय के परिष्कार हेतु उन अप्रकाशित ग्रन्थों का सारांश यथास्थान हस्तलेख से संकलित कर इसमें समाविष्ट किया है। इससे भाष्य की दुरूह पंक्तियों का अर्थ सुलभता से अवगत होने लगा। आज भी उस व्याख्या की उपादेयता में कमी नहीं आयी है।

खद्योत व्याख्या की भूमिका में डॉ० सर झा ने दो तीन मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया है –

(१) समस्त ज्ञानराशि वेद में ही निहित है अतः वह वेद (ज्ञान) कहलाता है। वेदवाक्य का अर्थज्ञान मीमांसाशास्त्र में निर्दिष्ट प्रक्रिया (पद्धति) से ही संभव है। अत एव मीमांसा शास्त्र की उपादेयता निःसन्दिग्ध है।

मानव का स्वभाव है कि केवल उपदेश सुनकर किसी विषय में वह प्रवृत्त नहीं होता है। तर्क से (ऊहापोह से) विषय की परीक्षा करके सन्तुष्ट होकर प्रवृत्त होता है। अतः तर्कशास्त्र (न्यायदर्शन) की उपादेयता उपयोगिता माननी होगी। मनुस्मृति में भी उक्त है कि ऋषि मुनि द्वारा किये गये उपदेश को वेद के अविरोधी तर्क द्वारा अनुसन्धान करने पर ही धर्म का ज्ञान होता है और तब ऋषि मुनि के उपदेश के अनुसार लोगों की प्रवृत्ति होती है।

आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।।अ०१२।।

यही कारण रहा होगा कि महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति में चौदह विद्या स्थानों के परिगणन के समय न्याय और मीमांसा का उल्लेख किया है। विद्यास्थान में दो पद हैं, विद्या पद विद् ज्ञाने धातु से निष्पन्न होने के कारण ज्ञानार्थक है और स्थान पद उपायार्थक है। अत एव विद्यास्थान से विद्या की अधिगति का उपाय अभिप्रेत है। ध्यान देने की बात है कि यहाँ सांख्य, योग तथा अन्य दर्शनों का उल्लेख नहीं किया गया है। याज्ञवल्क्य का वचन इस प्रकार है –

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।।

यहाँ यह भी अवधेय है कि न्याय और मीमांसा परमपुरुषार्थ मोक्ष के उपाय प्रदर्शक रहने से अध्यात्मविद्या के रूप में मान्य तो हैं ही साथ साथ शास्त्रान्तरों के ज्ञान हेतु उपाय (प्रक्रिया) भी यहाँ निर्दिष्ट है। फलितार्थ यह हुआ कि उक्त दोनों ही शास्त्र मोक्षशास्त्र तो है ही शास्त्रान्तर को समझने के लिए मैथोडोलौजी भी यहाँ निहित है। शास्त्रान्तर में वेद के उपाङ्गरूप में इन शास्त्रों का (न्याय और मीमांसा का) उल्लेख हुआ है।

यद्यपि मनुस्मृति के दूसरे अध्याय में न्यायविद्या की निन्दा की गयी है। लिखा है कि जो व्यक्ति हेतु शास्त्र (न्यायविद्या) का अनुसरण कर वेद तथा

स्मृति की अवहेलना करता है वह नास्तिक तथा वेदनिन्दक है, सज्जनवृन्द द्वारा उस व्यक्ति की अवहेलना होनी चाहिये।

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः।।

तथापि वेदविरोधी तर्क की निन्दा रहने पर भी वेद के अविरोधी तर्क का उपयोग अपेक्षित ही है।

दूसरा विषय यहाँ इन्होंने प्रतिपादित किया है कि भारतीय दर्शन के आरम्भिक काल में अर्थात् सूत्रकाल में इस संसार के कर्ता (निमित्त कारण) के रूप में ईश्वर मान्य नहीं थे। सृष्टि के नियन्ता के रूप में मान्य रहने से उनकी उपासना होती रही है। किसी भी दर्शन के सूत्रों में सृष्टि के कर्ता के रूप में ईश्वर का चिन्तन प्रमुखरूप में नहीं हुआ है। पूर्वमीमांसा तथा वैशेषिक दर्शनों में प्रायः ईश्वर पद का उल्लेख ही नहीं हुआ है। योगदर्शन में प्रणिधान विषय के प्रसङ्ग में विकल्प रूप में ईश्वरपद की चर्चा हुई है **ईश्वर प्रणिधानाद्वा। क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।** (योगसूत्र)। न्याय दर्शन में खण्डनीय दार्शनिक मतों के अन्तर्गत तीन सूत्रों में ईश्वर की चर्चा की गयी है, जहाँ सृष्टि के निमित्त कारण (कर्ता) ईश्वर को कहा गया है। यहाँ भाष्य, वार्तिक तथा तात्पर्य टीकामें पर्याप्त वैमत्य है। न्यायदर्शन के तृतीय अध्याय में आत्मपरीक्षा के अवसर पर जीवात्मा और परमात्मा का भेद नहीं दिखाया गया है।

न्यायदर्शन के सूत्रों में यद्यपि हेयमतों में ईश्वरवाद का उल्लेख है तथापि आचार्य उद्योतकरने अपने वार्तिक में अदृष्ट के अधिष्ठाता रूप में, संसार के कर्ता रूप में तथा वेद के रचयिता रूप में युक्ति और प्रमाण के बल पर ईश्वर का प्रतिष्ठापन किया है। आचार्य उदयन ने न्यायकुसुमाञ्जलि में इस उद्योतकर के मत का पल्लवन विशद एवं विस्तृत रूप में किया है। बौद्ध दर्शन के आचार्यगण ईश्वर के अस्तित्व के निराकरण में सतत लगे रहते थे। अत एव नैयायिक आचार्य के लिए ईश्वर की स्थापना करना नितान्त आवश्यक हो गया था। अभिप्राय यह है कि न्यायसूत्रकार की दृष्टि में जगत् के कर्ता के रूप में ईश्वर मान्य नहीं था। भाष्यकार ने भी ईश्वर को द्रष्टा, बोद्धा सर्वज्ञाता तो कहा है किन्तु कर्ता या स्रष्टा नहीं कहा है। आचार्य उद्योतकर ने अपने वार्तिक

में उपर्युक्त तीन हेतुओं से ईश्वर में वेदकर्तृत्व, जगत्कर्तृत्व तथा अदृष्ट के अधिष्ठातृत्व की सिद्धि की है।

डॉ० सर झा ने इस विषय को विशदरूप से पल्लवित कर मिथिलेश महेश रमेश व्याख्यान के अन्तर्गत दर्शनम् शीर्षक व्याख्यान में भी कहा है। यह व्याख्यान १९३९ ई० में दिया गया था। निबन्धरत्नमालिका में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली से श्रीमती आद्या झा पद्मश्री के संपादन में यह १९९० ई० के दशक में प्रकाशित है। इस दर्शनम् शीर्षक व्याख्यान में ईश्वर विषयक चिन्तन के अतिरिक्त दर्शन का अर्थ क्या है, इसके कितने प्रकार होते हैं तथा उन भारतीय दर्शन में कैसे समन्वय होता है– इसका मार्गदर्शन भी हुआ है। तीसरी बात यह कि डा० सर झा के समय में पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा में सुधी समाज में भिन्नता का भ्रम फैला हुआ था, अत एव उनके ऐक्य का भी सयुक्तिक प्रतिपादन इन्होंने किया है। इनकी दृष्टि में एक कर्मोपासना का प्रतिपादक है और दूसरा ज्ञानोपासना का। वैदिक चिन्तन कर्म तथा ज्ञान के प्रतिपादन में मर्यादित है।

इनकी दृष्टि में इस विश्वमण्डल में तत्त्व क्या है, वह तत्त्व नित्य है या अनित्य, वह चेतन है या जड़, इन तत्त्वों की उत्पत्ति किससे तथा कैसे होती है। पुरुषार्थ (पुरुष का प्रयोजन) क्या है, इसका स्वरूप क्या है तथा इसकी सिद्धि कैसे होती है – इत्यादि विषयक ज्ञान ही दर्शन है और इसका प्रतिपादक होता है दर्शनशास्त्र।

इस शास्त्र में उपर्युक्त जिज्ञासा की शान्ति हेतु पहले पदार्थों का नाम (उद्देश) कहकर उन पदार्थों के परिचयार्थ लक्षण किया जाता है पश्चात् परीक्षा के द्वारा उस लक्षण का निश्चय होने पर पदार्थ के स्वरूप का निर्णय किया जाता है। न्यायदर्शन में भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा है कि तीन प्रकार की इस शास्त्र की प्रवृत्ति देखी जाती है उद्देश, लक्षण तथा परीक्षा (**त्रिविधा चास्य प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं परीक्षा च**)।

चौथी बात यह है कि डॉ. सर झा की दृष्टि में छह दर्शन या बारह दर्शन का कथन प्रवाद है प्रामाणिक नहीं।

आस्तिक दर्शन छह प्रसिद्ध हैं – सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा तथा उत्तरमीमांसा। इसी प्रकार छह नास्तिक दर्शन मान्य हैं – जैन, चार्वाक तथा चार बौद्ध सम्प्रदाय, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक। सुधी समाज में बारह दर्शनों की प्रसिद्धि है।

डॉ० सर झा का कहना है कि दर्शन का यह विभाग प्रामाणिक नहीं है। सर्वदर्शन संग्रह में इन छह आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त जैन, बौद्ध, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ, रसेश्वर, प्रत्यभिज्ञा, चार्वाक, शैव तथा नकुलीश पाशुपत इन दश दर्शनों के सिद्धान्त प्रतिपादित हैं। चूँकि डा० सर झा अपने परिणत वयस में अच्छी तरह विद्या के परिपाक होने पर उपर्युक्त व्याख्यान दिये थे। अतः भारत में दार्शनिक चिन्तन के विकास का क्रम आरम्भिक काल से शृङ्खलाबद्ध रूप में यहाँ इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

छान्दोग्य उपनिषद के नारद सनत्कुमार संवाद में वाकोवाक्य अर्थात् न्यायविद्या तथा ब्रह्मविद्या (वेदान्त) का उल्लेख हुआ है। याज्ञवल्क्य स्मृति के आरम्भ में विद्या स्थान की चर्चा के क्रम में न्याय तथा मीमांसा दर्शन का उल्लेख हुआ है।

महर्षि याज्ञवल्क्य के साथ सहमत रहते हुए डा० सर झा इन्हीं दर्शन युगल के पक्षपाती प्रतीत होते हैं। इन्होंने अपनी कृति में तीन स्थानों में विशदता के साथ इसका उल्लेख किया है। न्यायभाष्य की खद्योतव्याख्या की भूमिका में, अपनी मौलिक कृति पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेस में तथा दर्शनशास्त्रम् इस उपर्युक्त भाषण में।

यद्यपि पूर्वमीमांसा के आरम्भिक काल में दार्शनिक विषयों की चर्चा नहीं है। उसमें केवल वैदिक वाक्य के अर्थ समझाने की प्रक्रिया का विस्तार से विचार किया गया है तथापि उत्तरमीमांसा (वेदान्त) मीमांसा पद से यहाँ अभिप्रेत है। भट्ट कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में कहा है कि भाष्यकार ने युक्ति से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कर नास्तिक मतों का निराकरण किया है। आत्मविषय का ज्ञान वेदान्त के परिशीलन से होता है।

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या।
दृढत्वमेतद्विषयप्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन।।

याज्ञवल्क्य के वचनानुसार डा० सर झा कहते हैं कि दर्शन का दो ही विभाग उचित प्रतीत होता है न्याय और मीमांसा। इन्हीं दोनों में अन्य दर्शनों का समावेश हो जाता है।

तत्र याज्ञवल्क्योत्त्यनुसारेण द्विधैव विभागः समुचितः प्रतिभाति मीमांसा न्यायश्च। अनयोरेवेतरेषामपि समावेशः।

(मिथिलेश महेश रमेशव्याख्यानमाला)।

इनकी दृष्टि में भारतीय दर्शन की छह संख्या प्रामादिक है। इस सन्दर्भ में युक्ति का प्रदर्शन करते हुए इन्होंने कहा है कि दशम शताब्दी में राजशेखर ने काव्यमीमांसा में वाङ्मय का निरूपण करते हुए पुराण, आन्वीक्षिकी मीमांसा, स्मृति तथा तन्त्र का उल्लेख किया है। यहाँ आन्वीक्षिकी से न्याय दर्शन का तथा मीमांसा की चर्चा हुई है। अन्य दर्शन सांख्य, योग, वैशेषिक तथा वेदान्त का निर्देश नहीं है। इसी समय में काश्मीर के नैयायिक जयन्तभट्ट ने षट्तर्की पद का प्रयोग किया है। षट्तर्की से मीमांसा, न्याय, सांख्य, आर्हत (जैन) बौद्ध तथा चार्वाक दर्शन इनका अभिप्रेत है। यहाँ वैशेषिक, योग तथा वेदान्त का उल्लेख नहीं हुआ है। बारहवीं शताब्दी में बौद्ध नैयायिक हरिभद्रसूरि ने सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनि का उल्लेख किया है। यहाँ वेदान्त तथा योग अचर्चित हैं। तेरहवीं शताब्दी में जिनदत्तसूरि ने जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, शैव तथा नास्तिक दर्शन की चर्चा की है। न्याय, वैशेषिक, वेदान्त तथा योगदर्शन अनुल्लिखित है। चतुर्दश शतक में राजशेखर सूरि ने जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक तथा सौगत दर्शन का उल्लेख किया है न्याय तथा वेदान्त का नहीं। प्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ का बालक चतुर्दश शतक में पाणिनि, जैमिनि, व्यास, कपिल, अक्षपाद और कणाद का उल्लेख किया है योग दर्शन यहाँ अनुल्लिखित है। सर्वदर्शन सिद्धान्त में लोकायतिक (चार्वाक) आर्हत (जैन) बौद्ध, वैशेषिक, नैयायिक, प्रभाकर, भट्टाचार्य (कुमारिल), सांख्य, पतञ्जलि, वेदव्यास तथा वेदान्त का वर्णन किया गया है। केवल विश्वसारतन्त्र में (गुरुगीता में) बारहवीं शताब्दी की कृति में प्रसिद्ध छह दर्शनों का स्पष्टतः उल्लेख हुआ है। गौतम कणाद कपिल पतञ्जलि व्यास तथा जैमिनि। अतः परस्पर विसंवाद देखकर छह दर्शन की प्रसिद्धि को विसंवाद कहना अनुचित नहीं प्रतीत होता है।

यद्यपि महर्षियों के द्वारा प्रणीत भारतीय आस्तिक दर्शनों के सूत्रसमूह में प्रतिपादित मूलभूत सिद्धान्तों में परस्पर विरोध देखा जाता है जबकि महर्षिवृन्द सिद्धपुरुष सत्यवक्ता धर्म का साक्षात्कार कर सन्मार्ग के उपदेशक के रूप में मान्य हैं तथापि डा० सर झा ने यहाँ परस्पर समन्वय का प्रयास किया है। इन्होंने कहा है कि तत्त्व जिज्ञासा की पद्धति में ही सभी दर्शनों का समावेश होता है। विचार करने पर एक ही प्रमेय (आत्मा) का तत्त्वज्ञान सभी दर्शनों का अपेक्षित है और प्रयोजन भी एक ही है दुःखमय संसार से मुक्ति की प्राप्ति। अतः एक ही तत्त्व का विचार आवश्यक है। और उसके विचार हेतु दर्शन भी एक ही होना चाहिए। अनेक दर्शन इस विचार के प्रकार को समझाता है। जो अनेक भारतीय दर्शन उपलब्ध है, वह उसी एक दर्शन का सोपान जैसा है, जो अधिकारी के भेद से उपपन्न होता है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर पारमार्थिक विषय में किसी भी दर्शन में तात्त्विक मतभेद किसी प्रकार का नही है। अतः दर्शनों में भिन्न जातीयता मान्य नहीं है। फलितार्थ यह हुआ कि दर्शनों में एकार्थता एवं परमतत्त्व की ज्ञापकता सिद्ध होती है।

इनकी (डा० सर झा की) दृष्टि में दर्शन मुख्य रूप से तीन कुलों में विभक्त है– सांख्यकुल, न्यायकुल तथा मीमांसाकुल। सांख्यकुल में सांख्य और योग दोनों दर्शनों का समावेश है। प्रमाण तथा सृष्टि प्रक्रिया का विचार सांख्य दर्शन के विषय रूप में मान्य है। तत्त्वज्ञान के सम्पादन में साधन का विशद विवेचन प्रमुख रूप से योगदर्शन के विषय हैं। सांख्य और योगदर्शन प्राचीन समय में सांख्य नाम से ही व्यवहृत होता था। दोनों ही दर्शनों के भाष्य सांख्यप्रवचनभाष्य नाम से प्रसिद्ध है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि **एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति**। यद्यपि कुछ दार्शनिक सेश्वर सांख्य दर्शन से योगदर्शन का और निरीश्वर सांख्य दर्शन से सांख्य दर्शन का व्यवहार करते हैं तथा दोनों में पार्थक्य दिखाते हैं किन्तु यह प्रामादिक है। डॉ. सर झा की दृष्टि में **ईश्वरासिद्धेः** इस सांख्य सूत्र से सांख्य दर्शन ईश्वर का अस्वीकार नहीं करता है अपितु सृष्टि की प्रक्रिया में ईश्वर की अनुपयोगिता का प्रतिपादन करता है।

पदार्थों के स्वभाव का विचार करने पर वह दो प्रकार का होता है

आध्यात्मिक (इन्द्रियों का अगोचर-अविषय) तथा आधिभौतिक (इन्द्रियों का गोचर-विषय) आध्यात्मिक पदार्थ प्रधान होता है और आधिभौतिक गौण। आध्यात्मिक से चेतन और आधिभौतिक से जड़ पदार्थ अभिप्रेत है। पुरुष चेतन होता है और प्रकृति जड़। पुरुष और प्रकृति में भेद का ज्ञान होने पर सांसारिक बन्धन पुरुष का छूट जाता है। इसी को सत्त्व पुरुष की अन्यता ख्याति कहते हैं। अर्थात् पुरुष और प्रकृति में भेद का ज्ञान है अन्यता ख्याति। सत्त्वपद यहाँ प्रकृति का वाचक है। इस दर्शन की मान्यता है कि साक्षात् या परम्परया सृष्टि का कर्तृत्व या नियन्तृत्व पुरुष (आत्मा) में है। जो व्यक्ति जिस किसी कार्य को करवाता है, वह उस कार्य को करता भी है। पुरुष अपने सान्निध्य मात्र से प्रकृति को संसार की सृष्टि में प्रवृत्त करवाता है। पुरुष की केवल इच्छा से प्रकृति सृष्टि में प्रवृत्त होती है। यही प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के लिए बन्धन का कारण होता है। अत एव इन दोनों के भेदज्ञान से पुरुष मुक्त हो जाता है। इन आत्माओं से ऊपर एक परमात्मा है। सांख्य दर्शन ईश्वर का विरोधी नहीं है। ईश्वरासिद्धेः सांख्यदर्शन के सूत्र का तात्पर्य है कि ईश्वर प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय नहीं है। ईश्वर वाक् तथा मनस का अगोचर होता है तथा सृष्टि की प्रक्रिया में अनुपयोगी है।

भारतीय दर्शन का दूसरा कुल है न्याय। इस कुल में प्रधानरूप से न्याय वैशेषिक का तथा गौण रूप से बौद्ध तथा जैन दर्शन का समावेश है। न्याय दर्शन के चिन्तन की प्रक्रिया - पदार्थ का उद्देश, लक्षण तथा परीक्षण इन सभी दर्शनों में देखा जाता है। यह अन्य शास्त्रों के ज्ञान में उपकारक होता है। न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों में दार्शनिक पदार्थ इस तरह घुलमिल गए हैं कि न्याय दर्शन में वैशेषिक दर्शन के पदार्थ सिद्धवत् मान लिये गये हैं। न्यायभाष्यकार ने स्वयं १।१।४ सूत्र के भाष्य में कहा है कि एक दर्शन का सिद्धान्त यदि दूसरे दर्शन में खण्डन नहीं किया गया है, तो वह सिद्धान्त उस दर्शन का मान्य है।

अप्रतिषिद्धं परमतमनुमतं भवतीति तन्त्रयुक्तिः।

यहाँ तत्त्वज्ञान के परिवर्धन तथा परिरक्षण के प्रकार न्यायसूत्र के चौथे अध्याय के दूसरे आह्निक में अच्छी तरह कहे गये हैं। यथा समाधि विशेष के अभ्यास से तत्त्वज्ञान का परिवर्धन परिरक्षण होता है – **समाधिविशेषाभ्यासात्** ४।२।३८।

वाचस्पति मिश्र ने इस सूत्र की तात्पर्य टीका में कहा है कि समाधि से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है, जो तत्त्व ज्ञान के प्रति आदर रहने से निरन्तर दीर्घकाल तक विद्यमान रहता है। इसके लिए यम नियम आदि से आत्मसंस्कार अपेक्षित है – **तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारः**।४।२।४६।

तत्त्वज्ञान के हो जाने पर निरन्तर उसका अभ्यास आवश्यक है। इसके लिए तत्त्वज्ञानी के साथ इसकी चर्चा करते रहना चाहिये। न्यायभाष्यकार के वचन **'तद्विद्यसम्भाषसे'** यही अभिप्रेत है। **ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद् विद्यैश्च सह संवादः** ४।२।४७ सूत्र का यही तात्पर्य है। इस अभ्यास से तत्त्वज्ञान का परिपाक होता है, इसका स्पष्टरूप से प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि गुरु, शिष्य, सहाध्यायी तथा असूयारहित मुक्ति के इच्छुक के साथ तत्त्वज्ञान का विचार करते रहना चाहिए – **तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्ट-श्रेयोऽर्थिभिरभ्युपेयात्** ४।२।४८ इस तत्त्वज्ञान के संरक्षण हेतु न्यायसूत्रकार ने जल्प और वितण्डा कथा के ज्ञान की आवश्यकता पर बल दिया है। इससे दूसरों के द्वारा तत्त्वज्ञान के प्रसंग में वञ्चना करने पर उसका परिज्ञान मुमुक्षु को हो जाता है। तत्त्वज्ञान के संरक्षण तथा परिवर्धन का यह प्रकार सभी शास्त्रों में समान रूप से प्रयुक्त होता है। डा० सर झा ने कहा है कि इसी जल्प तथा वितण्डा कथा को विवेचना या शास्त्रार्थ कहा जाता है। इसकी उपेक्षा करने पर तत्त्वज्ञान या शास्त्र का ज्ञान सुदृढ़ नहीं हो पाता है।

भारतीय दर्शन का तीसरा कुल है मीमांसा। महर्षि जैमिनि के सूत्रों में उपनिबद्ध शास्त्र को पूर्वमीमांसा कहते हैं तथा महर्षि वादरायण के सूत्रों में उपनिबद्ध है वेदान्त दर्शन या उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा में दार्शनिक विषयों का अभाव ही देखा जाता है केवल प्रमाण का निरूपण दार्शनिक दृष्टि से यहाँ हुआ है। मुख्यतः वैदिक वाक्यों के अर्थ निर्धारण हेतु प्रक्रिया–पद्धति के विषयों के विचार में यह मर्यादित है। वेद का ही धर्म में प्रामाण्य है –

इसका प्रतिपादन दृढ़ता से यहाँ किया गया है। आत्मा तथा अपूर्व आदि पदार्थ वेदबोधित कर्मों के साधन के अंग रूप में यहाँ समाविष्ट है। जैमिनि सूत्र का मुख्य प्रयोजन है वैदिक वाक्यों के तात्पर्य का अवधारण। वेदान्त वाक्य ही वेदान्त के अन्तिम सिद्धान्त का एकमात्र उपाय है। वेदान्त पद वस्तुतः उपनिषद का बोधक है। यह सर्वथा यथार्थ है कि औपनिषदिक वाक्यों के तात्पर्य का प्रतिपादन बादरायण सूत्र से होता है। किन्तु वाक्यार्थों के अवधारण में उपयोगी प्रक्रिया से ही वह संभव है। यही कारण है कि शङ्कर भगवत्पाद ने शारीरक भाष्य में जैमिनि के अधिकरण प्रणाली का अनेकत्र उपयोग किया है। पूर्वमीमांसा के वाक्यार्थ की बोधप्रक्रिया के परिचय बिना वेदान्त दर्शन के सिद्धान्तों का बोध संभव नहीं है। अतः एक ही दर्शन का अंग पूर्व तथा उत्तर मीमांसा मान्य है।

डा० सर झा के समय में नवीन वेदान्तीवृन्द पूर्व तथा उत्तर मीमांसा में परस्पर भेद मानने लगे थे। अत एव डा० सर झा को स्पष्टरूप से दोनों मीमांसा के ऐक्य का प्रतिपादन करना आवश्यक प्रतीत हुआ। चूँकि मीमांसा नाम से दोनों प्रसिद्ध है तथा वेदान्त वाक्यों के तात्पर्यनिर्णय में मीमांसान्याय की प्रक्रिया का उपयोग नहीं चाहने पर भी नवीन वेदान्ती के लिए भी आवश्यक हो जाता है। अतः दोनों में ऐक्य मानना ही होगा। आचार्य शङ्कर भगवत्पाद आदि तो मीमांसा न्याय का उपयोग करते ही आये हैं। वेदान्त के अभिज्ञों ने तो स्पष्ट कहा है कि व्यवहार में कुमारिलभट्ट की नीति अपेक्षित है – **व्यवहारे भाट्टनयः।**

मीमांसाशास्त्र के सूत्र बीस अध्यायों में विभक्त है। आदि से बारह अध्याय प्रसिद्ध पूर्वमीमांसा के हैं, जो वैदिक वाक्यों के अर्थ निर्धारण की प्रक्रिया में मर्यादित है। शबर स्वामीकृत इसका भाष्य प्रसिद्ध है। चार अध्याय इसका पूरक दैवतकाण्ड या संकर्षकाण्ड नाम से प्रसिद्ध है। इन चार अध्यायों का भाष्य देवस्वामी ने किया है, शबर स्वामी नहीं। अतः पूर्वमीमांसा में सोलह अध्याय हैं, इन सोलह अध्यायों के सूत्रों का प्रणयन महर्षि जैमिनि ने किया है। महर्षि वादरायण प्रणीत वेदान्त सूत्र उत्तरमीमांसा चार अध्यायों में मर्यादित है। इस पर शङ्करभगवत्पाद का भाष्य है और इस भाष्य की

व्याख्या पद्मपादाचार्य ने पञ्चपादिका नाम से तथा वाचस्पति मिश्र ने भामती नाम से लिखी है। पूर्वमीमांसा का मुख्य विषय है वैदिक वाक्यों के स्वतः सिद्ध प्रामाण्य का स्थापन तथा वेद वाक्य की अर्थ निर्धारण प्रक्रिया का कथन। इससे धर्म का (कर्तव्य का) निर्णय होता है। जब तक वैदिक वाक्यों का ब्राह्मण ग्रन्थ तथा उपनिषद ग्रन्थों का तात्पर्य ज्ञात नहीं होगा तब तक यज्ञयागादिरूप कर्मकाण्ड के तथा ब्रह्म के प्रसंग में जिज्ञासा नहीं होगी। उक्त जिज्ञासा होने पर ही कर्मकाण्ड का तथा वेदान्त सिद्धान्त का परिज्ञान हो सकता है। अतः जैमिनि तथा बादरायण द्वारा प्रतिपादित शास्त्र भारतीय दर्शन के अंग रूप में मान्य है। शङ्कर भगवत्पाद ने शारीरक भाष्य में (३।३।५३।) कहा है कि देह से भिन्न आत्मा यदि नहीं मानेंगे तो परलोक प्राप्ति के उपाय चोदना (पूर्व मीमांसा का धर्म) उपपन्न नहीं होगी। तब किसको ब्रह्म का उपदेश दिया जाएगा। पूर्वमीमांसाशास्त्र के प्रथम पाद में उक्त है कि शास्त्र में उक्त फल के उपभोगयोग्य देह से भिन्न आत्मा का अस्तित्व मानना आवश्यक है – यह बात मीमांसा भाष्यकार शबर स्वामी ने कही है। यद्यपि पूर्वमीमांसा के किसी सूत्र से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है तथापि महर्षि वादरायण ने पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष की प्रस्तुति से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है। यहाँ से इसको लेकर शबरस्वामी ने प्रमाणलक्षण के अवसर पर आत्मा का प्रतिष्ठापन किया है।

पूर्वमीमांसासूत्रों के प्राचीन वृत्तिकार उपवर्ष ने प्रथम तन्त्र में ही आत्मा की सिद्धि के समय में कहा है कि यह शारीरक भाष्य में कहा जाएगा। यहाँ चोदनालक्षण के विचारकाल में आत्मा के अस्तित्व का विचार किया जा रहा है जो सम्पूर्ण शास्त्र में शेष है।

शबर स्वामी तथा उपवर्ष ने शास्त्रान्तर की अपेक्षा मीमांसाशास्त्र की प्रमुखता वेदान्तसिद्धान्त के अवलम्बन से ही सिद्ध की है। अत एव पूर्व एवं उत्तर भाग मिलकर ही मीमांसाशास्त्र की पूर्णता होती है। नवीन वेदान्ती वृन्द कर्मकाण्ड के प्रतिपादक को पूर्वमीमांसा तथा ज्ञानकाण्ड के प्रतिपादक को उत्तरमीमांसा कहकर परस्पर पार्थक्य दिखाने का प्रयास किया है, किन्तु इसमें प्रमाण नहीं है। वेदान्त दर्शन के प्रधान आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने

शारीरक भाष्य में कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड का समन्वय किया है। अतः दोनों (पूर्व तथा उत्तर) मीमांसा में पार्थक्य या विरोध की कल्पना निर्मूल प्रतीत होता है। शङ्कर भगवत्पाद ने अपने भाष्य में कर्मानुष्ठान के समर्थक सिद्धान्त वाक्यों का अनेकत्र उल्लेख किया है। इससे प्रतीत होता है कि शङ्कर भगवत्पाद को ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय मान्य है। अधिकारी के भेद से दोनों ही उपासनाओं का समन्वय होता है। डा० सर झा ने इस सन्दर्भ में अनेक उदाहरण शांकरभाष्य से उद्धृत किया है। अनावश्यक विस्तार के भय से यहाँ उन उद्धरणों का संकलन नहीं किया गया है।

मिथिलेश महेश रमेश व्याख्यानमाला का दूसरा व्याख्यान इन्होंने हिन्दी में 'संस्कृत शिक्षा विधान' नाम से किया है। इसमें इन्होंने अपने समय में संस्कृत विद्यालयों में संस्कृत विद्या कैसे पढ़ाई जाए – इसका जो सरकार के तरफ से आयोजन हुआ था, उसका विशद एवं विस्तृत विवरण दिया है। इन्होंने कहा है कि प्रचलित परीक्षा प्रणाली से विद्यार्थियों में शास्त्र की पल्लवग्राहिता आती है प्रगाढ़ शास्त्रीय पाण्डित्य नहीं अर्जित हो पाता है। खेद व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि अधीतशास्त्र की अभिज्ञता नितान्त आवश्यक है। जीविकार्थ संस्कृत विद्याकी उपयोगिता नहीं रहने पर भी विशुद्ध ज्ञान की उपलब्धि हेतु इस विद्या के अध्ययन हेतु परामर्श दिया है। अन्यथा संस्कृत में उपनिबद्ध भारतीय विद्या के लोप की संभावना व्यक्त की है।

यद्यपि आज ऐसी स्थिति नहीं है। संस्कृत के सुयोग्य विद्वान् अध्यापन में, प्रशासन में तथा अन्य कार्यों में संलग्न होकर अर्थोपार्जन कर रहे हैं। मनुष्य का जीवन यापित करते हैं – यह स्वतन्त्र भारत की देन है। डा० सर झा ने अपने समय की संस्कृत विद्या की स्थिति का विवरण दिया है।

इस व्याख्यान में एक महत्वपूर्ण विषय खेद के साथ इन्होंने कहा है, जिससे समाज में निन्दनीय विचार का प्रचार इनके समय में हुआ था।

सौ वर्ष पहले दाय विषयक विवाद के प्रसंग में वकालत में संस्कृत में लिखित धर्मशास्त्र के मूल ग्रन्थों को समझने की योग्यता अपेक्षित थी। अब वह नहीं होता है। दाय का निर्णायक 'केश लौ' होता है अर्थात् भारत से

विलायत तक के जजों का निर्णय ही अब वह कार्य करता है। मूल ग्रन्थों को कोई नहीं देखता है।

धर्मशास्त्रीय मूल ग्रन्थ के ज्ञान के बिना कैसा उटपटाङ्ग निर्णय होता है या हुआ है उसका उदाहरण प्रस्तुत करते हुए इन्होंने कहा है कि दत्तक पुत्र के प्रसंग में गौतम धर्मसूत्र में वचन है कि यदि किसी को एक ही पुत्र है तो वह दत्तक पुत्र के रूप में न दिया जा सकता है न तो लिया ही जा सकता है। क्योंकि कुल परम्परा की रक्षार्थ वह एक पुत्र होता है – **नैकं पुत्रं दद्यात् प्रति गृह्णीयाद्वा स हि सन्तानाय पूर्वेषाम्।** बम्बई में किसी ने ऐसे ही किसी एक पुत्र को दत्तक स्वीकार कर लिया – इस पर विवाद होने पर उच्च न्यायालय में यह विचार हेतु गया। एक प्रतिष्ठित वकील ने इस दत्तक पुत्र के पक्ष का समर्थन किया। मीमांसा के हेतुवन्निगद अर्थवाद के रूप में उक्त गौतम धर्मसूत्र के वचन की व्याख्या की, जो वस्तुतः विधिवचन के रूप में मान्य होना चाहिए था उसका अर्थवाद रूप में व्याख्या की और उस एकमात्र पुत्र को दत्तक रूप में स्वीकार करना शास्त्रसम्मत माना।

डा० सर झा ने यहाँ कहा है कि उक्त अर्थवाद का उपयोग यहाँ कहाँ तक संगत है – यह मीमांसकों से अविदित नहीं है। यथार्थता यही है कि यह निर्णय सर्वथा अनुचित एवं असत्य है। किन्तु परिणाम यह हुआ कि भारत के साथ विलायत के प्रीवी कौन्सिल तक में इस व्याख्यायित मीमांसा न्याय के आधार पर निर्णय हुआ कि किसी का केवल एक पुत्र भी दत्तक हो सकता है। क्या इससे धर्मलोप नहीं हुआ है – आप सब इस पर विचार करें।

धीराः कुशाग्रमतयः भवतः प्रणम्य
मौलौ निधाय करवारिरुहे समीहे।
वाणीयमर्थरहितापि विश्रृङ्खलापि
सानुग्रहेण हृदयेन विभावनीया।।

शिर पर अञ्जलि रखकर मैं सुधीवृन्द को प्रमाण कर निवेदित करता हूँ कि अर्थरहित तथा श्रृङ्खलाबद्ध नहीं रहने पर भी मेरी वाणी पर अनुग्रह पूर्वक विचार करेंगे।

मिथिलेश महेश रमेश व्याख्यानमाला के प्रथम व्याख्यान के उपसंहार में डा. सर झा ने तत्त्वचिन्तामणि के शब्द खण्ड का आरम्भिक इस पद्य का उल्लेख कर कहना चाहा है कि इस व्याख्यान में मेरे प्रतिपादित सिद्धान्तों में प्रामाणिकता है। इससे इनके चिन्तन की दृढ़ता, मौलिकता तथा आत्मविश्वास परिलक्षित होते हैं।

१) षड्दर्शन का कथन प्रवाद है। यथार्थतः न्याय और मीमांसा ही दर्शन है। इसके सोपानरूप में अधिकारी के भेद से अन्य भिन्न भिन्न दर्शन उपपन्न होते हैं। वस्तुतः एक ही लक्ष्य परम पुरुषार्थ मोक्ष का लाभ सभी दर्शनों का प्रतिपाद्य है और उसका उपाय आत्मज्ञान है।

२) सूत्रकाल में किसी भी दर्शन में सृष्टि के कर्ता के रूप में ईश्वर का विचार नहीं हुआ है। अत एव उपासनीय रहने पर भी ईश्वर दार्शनिक चिन्तन का विषय नहीं है।

३) मीमांसा के दो भेद पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा जो कहा गया है वह कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड का प्रतिपादक होने पर भी परस्पर भिन्न नहीं है। अपि तु परस्पर एक दूसरे का परिपूरक है। वस्तुतः मीमांसादर्शन एक ही है।



सारस्वत अवदान

काशी प्रवास के समय काशी निवासी प० भगवान दास एवं गोविन्द दास इनके अन्तरङ्ग मित्र थे। इनके सारस्वत अनुष्ठान में इन मित्रों ने बहुत सहायता की थी। पढ़ते समय परीक्षा में पाठ्य ग्रन्थ से पूछे गये प्रश्नों का उत्तर अनिवार्यतः अंग्रेजी में लिखना पड़ता था। काव्यप्रकाश, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली तथा सांख्यतत्त्वकौमुदी का अंग्रेजी अनुवाद इन्होंने इन्हीं मित्रों के परामर्श से किया था। प० गोविन्ददास ने इनको सुझाया था कि ग्रन्थ का आवृत्ति-अभ्यास, कठिन भावों का अंग्रेजी में अनुवाद करने की क्षमता तथा अवसर आने पर इनके प्रकाशन से विश्वभर में इसका प्रसार-प्रचार संभव है। अतः इनका अन्तःकरण इसको स्वीकार कर लिया।

दूसरी बात यह थी कि क्वीन्स कॉलेज वाराणसी में जब डा० सर झा विद्यार्थी थे तब पण्डित पत्रिका में प्रो० जार्ज थीबो तथा प्रो० आर्थर भेनिस का नाम भारतीय विद्या के ग्रन्थों के सम्पादक रूप में प्रकाशित देखकर इनके मन में भी लालसा जागृत हुई कि पण्डित पत्रिका में इसी प्रकार मेरा भी नाम ग्रन्थ के सम्पादक रूप में यदि छपता। यह मनोरथ १८९० ई० में प्रो० भेनिस की सहायता से काव्यप्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद उक्त पत्रिका में प्रकाशित होने पर पूरा हुआ। यद्यपि डा० सर झा ने उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशन हेतु नहीं किया था परीक्षा में उत्तर लिखने में सौविध्य हेतु किया था तथापि प्रकाशन का सुयोग मिलने पर प्रकाशनार्थ दिया तथा सम्पादक द्वारा परीक्षित होने पर प्रकार्शनार्ह माना भी गया। इससे इनका मनःप्रसाद तथा आत्मपरितोष होना सर्वथा स्वाभाविक था।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली का इनके द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद प्रमादवश भुला गया। म्योर सेन्ट्रल कॉलेज में अध्यापन करते समय इन्होंने किसी प्रिय

छात्र को परीक्षा की तैयारी हेतु वह अनुवाद दिया जो उस विद्यार्थी की अनवधानता से भुला गया।

सांख्यतत्त्वकौमुदी का अंग्रेजी अनुवाद थियोसौफिकल सोसाइटी के मुखपत्र थियोसौफिस्ट में पहली बार प्रकाशित हुआ। पुनः इसका दूसरा संस्करण तुंकाराम तात्या ने थियोसौफिकल पब्लिकेशन फण्ड से बम्बई से प्रकाशित करबाया। इसकी इतनी लोकप्रियता हुई की स्वल्पसमय में ही इसका तीसरा संस्करण ओरिएण्टलबुक एजेन्सी पूना से प्रकाशित हुआ।

डा० सर झा जब दरभङ्गा राज के पुस्तकालयाध्यक्ष थे तो तुकाराम तात्या को प्रकाशन हेतु इन्होंने विज्ञानभिक्षु कृत योगसार संग्रह का तथा योग भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद दिया था। ये दोनों ही अनुवाद पश्चात् थियोसौफिकल पब्लिशिङ हाउस मद्रास से प्रकाशित हुए।

दरभङ्गा राज के पुस्तकालयाध्यक्ष रहते हुए इन्होंने मीमांसा के प्रख्यात विद्वान् तथा दरभङ्गा राज्य के आश्रित म०म० चित्रधर मिश्र से मीमांसा के प्रौढ़ ग्रन्थ युगल श्लोकवार्तिक एवं तन्त्रवार्तिक का अध्ययन किया तथा उन दोनों ही ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद किया, जो कुछ दिनों के बाद एशियाटिक सोसाइटी औफ बंगाल, कलकत्ता से प्रकाशित हुए। पुनश्च वङ्गाभिजन श्रीधर कृत प्रख्यात व्याख्या न्यायकन्दली के साथ प्रशस्तपाद भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद किया जो काशी की पण्डित पत्रिका में प्रकाशित हुआ।

इसी समय में इन्होंने शाण्डिल्यभक्तिसूत्र की पद्यबद्ध व्याख्या संस्कृत में की जो भक्तिकल्लोलिनीनाम से काशी से १८९५ ई० में प्रकाशित हुई।

ये जब एम०ए० (स्नातकोत्तर कक्षा) के छात्र थे तब इन्होंने प्रसन्नराघव नाटक का संस्कृत में व्याख्या लिखना आरंभ किया था। इसको जब इन्होंने अपने श्वसुर महामहोपाध्याय हर्षनाथ झा को दिखाया तो वे प्रसन्न होकर इनको प्रोत्साहित करते हुए शीघ्र इसे पूरा करने के लिए कहा था। यह व्याख्या १९०६ ई० में काशी की पण्डित पत्रिका में प्रकाशित हुई।

यद्यपि प्रभाकर स्कूल औफ पूर्व मीमांसा नामक अपने शोध प्रबन्ध का संस्कृत में इनको सारांश लिखना पड़ा था। क्योंकि जार्ज थीबो इनके मार्गदर्शक अंग्रेज थे अंग्रेजी जानते थे तथापि दो परीक्षक म०म० शिवकुमार शास्त्री तथा

म०म० गङ्गाधर शास्त्री अंग्रेजी नहीं जानते थे, अतः संस्कृत में उस शोध प्रबन्ध का सारांश लिखना आवश्यक था। शोधप्रबन्ध का यह संस्कृत में लिखित सारांश प्रकाशित नहीं हुआ। हम लोगों की दृष्टि पर हस्तलेख भी इसका नहीं आया। न तो इनके नाम पर स्थापित शोध संस्थान में न ही इनके प्रयागस्थित आवास पर ही यह कहीँ है। प्रतीत होता है कि संक्षेप में लिखित शोध प्रबन्ध का सारांश न तो प्रकाश्य माना गया न ही उसके संरक्षण में ही अवधान दिया गया। अंग्रेजी शोध प्रबन्ध प्रयाग विश्वविद्यालय ने १९११ ई० में ही प्रकाशित कर दिया था। पाश्चात्य देश में इसका बहुत आदर हुआ अत्यधिक प्रतिष्ठा हुई।

१९२५ ई० में न्यायभाष्य की खद्योत व्याख्या कर इन्होंने काशी के चौखम्बा संस्कृत सीरीज से प्रकाशित करबाया। इसके साथ न्यायभाष्य का रघूत्तम नैयायिक द्वारा प्रणीत भाष्यचन्द्र का भी संपादन कर प्रकाशित करवाया। इसके परिशिष्ट के रूप में वृद्ध वाचस्पति मिश्र की कृति न्यायसूचीनिबन्ध का भी प्रकाशन किया है।

न्यायभाष्य पर डा० सर झा की स्वरचित व्याख्या खद्योत तथा वरेण्य नैयायिक रघूत्तम की भाष्यचन्द्र व्याख्या पहली बार डा० सर गंगानाथ झा तथा प्रसिद्ध पण्डित ढुण्ढिराज शास्त्री के सम्पादन में १९२५ ई० में चौखम्बा संस्कृत सिरीज वाराणसी से प्रकाशित हुई थी। इस ग्रन्थ में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शनशास्त्र के अध्यापक पण्डित अम्बादास शास्त्री की भाष्यचन्द्र पर टिप्पणी का भी समावेश हुआ है।

भाष्यचन्द्र व्याख्या अपूर्ण है, न्याय दर्शन के तृतीय अध्याय के द्वितीय आह्निक के सत्रह सूत्र पर्यन्त ही यह उपलब्ध है। चूँकि इस भाष्यचन्द्र की एक ही हस्तलिखित प्रति मिथिलाक्षर में डा० सर झा को उपलब्ध हुई थी, वह भी वङ्गाभिजन प्रसिद्ध अद्वैतवेदान्ती मधुसूदन सरस्वती के पुस्तक संग्रह में, अतः रघूत्तम का मैथिल होना संभावित है – सम्पादकों की ऐसी धारणा है।

रघूत्तम ने अपनी इस भाष्य चन्द्र व्याख्या में वार्त्तिककार उद्योतकर की पंक्तियों का उल्लेख तो किया है किन्तु तात्पर्य टीका की चर्चा नहीं की है। अत एव संभव है कि वृद्ध वाचस्पतिमिश्र से यह प्राचीन हों या समसामयिक हों। भाष्यचन्द्र के अतिरिक्त इनकी अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है, न तो इनका परिचय ही किसी स्रोत से उपलब्ध है। अतः इनके विषय में कुछ भी विशेष

कहना संभव नहीं है। संपादकों की दृष्टि में रघूत्तम की व्याख्या की व्युत्पत्ति जितनी अच्छी है उतने दार्शनिक तत्त्ववेता ये नहीं प्रतीत होते हैं।

डा० सर झा ने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा में इस भाष्यचन्द्र के प्रसंग में कहा है कि इनके अभिन्न मित्र पण्डित गोविन्द दास ने प्रसिद्ध दार्शनिक मधुसूदन सरस्वती का पुस्तकालय खरीद किया था। वहीँ डा० सर झा को मैथिली लिपि में लिखी हुई यह भाष्यचन्द्र व्याख्या मिली थी जिसे इन्होंने देवाक्षर में प्रतिलिपि कर प्रकाशनार्थ प्रस्तुत किया था। भाष्यचन्द्र व्याख्या डा० सर झा को नितान्त उपादेय प्रतीत हुई थी।

इस भाष्यचन्द्र की अपूर्णता के कारण डा० सर झा ने न्याय भाष्य की खद्योतव्याख्या लिखने का संकल्प किया था। जहाँ से भाष्यचन्द्र अनुपलब्ध है (३।२।१७) वहाँ डा० सर झा ने खद्योत व्याख्या का प्रणयन करते हुए एक पद्य में कहा है।

दैवस्य दुर्विपाकात् कालगतेरेव दुर्निवारत्वात्।
अस्तं गमिते चन्द्रे खद्योतो द्योतते नितराम्।।

संभव है उस समय में न्यायभाष्य की अन्य व्याख्या उपलब्ध नहीं थी और यह भाष्यचन्द्रव्याख्या अपूर्ण थी, अतः डा० सर झा ने न्याय के विद्यार्थियों के उपकार हेतु खद्योतव्याख्या सम्पूर्ण न्याय भाष्य पर लिखने का संकल्प लिया हो। इस व्याख्या के प्रणयन से इनको मनस्तुष्टि हुई थी।

डा० सर झा ने दो पद्यो में खद्योत व्याख्या का मङ्गलाचरण किया है। वे एक में भगवान् विश्वनाथ के साथ माता पिता के चरणकमलों को हृदय में रखकर इस व्याख्या के प्रणयन करने की सूचना देते हैं। दूसरे पद्य में अपनी व्याख्या में वार्त्तिक, तात्पर्यटीका तथा परिशुद्धि के अभिप्रायों के निवेश की सूचना देते हैं। उस समय तक तात्पर्य टीका एवं परिशुद्धि का अधिक भाग हस्तलेख रूप में ही उपलब्ध था सम्पूर्णतः प्रकाशित नहीं हो सका था।

पित्रोस्तीर्थलता तीर्थनाथयोः पादपङ्कजम्।
निधाय हृदिविश्वेशं गङ्गानाथः करोत्ययम्।।

सर्वं वार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिसमाश्रयम्।
अर्थतः शब्दतो वापि प्रायशोऽत्र निरूपितम्।।

यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। इनके बड़े भाई स्वनामधन्य विन्ध्यनाथ झा जैसे शिवभक्त थे तथा अव्यवहित अग्रज पुण्यश्लोक गणनाथ झा भगवती तारा के एकान्त उपासक थे, वैसे ही डा० सर झा माता पिता के एकान्त भक्त थे – इनकी कृतियों में माता पिता की भक्ति के प्राचुर्य के साथ विन्ध्यनाथ झा तथा महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह के प्रति कृतज्ञतापूर्ण सम्मान भाव परिलक्षित होता है। अपनी व्याख्या में वार्त्तिक, तात्पर्यटीका तथा परिशुद्धि का उपयोग विषयावबोधहेतु करते हुए इन्होंने उदयनाचार्य की उक्ति का अनुसरण भी किया है।

उदयनाचार्य ने कुसुमाञ्जलि के आरम्भ में कहा है – **यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिकाः**। जितना कहने से विषय स्पष्ट रूप में ज्ञात हो उतना अवश्य कहना चाहिए।

यहाँ प्रथम अध्याय के अन्त में विद्यासागर डा० सर झा ने विद्या ददाति विनयं का परिचय देते हुए कहा है कि महर्षि वात्स्यायन के वाक्य के व्याख्यान का जो मैं साहस (दुष्कर कर्म) कर रहा हूँ उसके मार्जन हेतु इस व्याख्या को मैं अपने माता पिता के चरणों में अर्पित करता हूँ

महर्षिवाक्यव्याख्यानसाहसस्य प्रमार्जनम्।
पित्रोश्चरणयोरस्य खद्योतस्य समर्पणम्।।

यहाँ भी मातृ–पितृ भक्ति के साथ उन दोनों के पुण्य प्रभाव पर दृढ़ आस्था अभिव्यक्त होती है।

द्वितीय अध्याय के अन्त में इन्होंने अपने अभिभावक ममेरे भाई मिथिलेश लक्ष्मीश्वर सिंह को धन्यवाद देते हुए कृतज्ञता अर्पित की है। इनकी कृपा से ही इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया था।

यत्कृपालेशमात्रेण शास्त्रं यत्किञ्चिदीक्षितम्।
तं श्रीलक्ष्मीश्वरं देवं धन्यं मन्ये सदा हृदि।।

तृतीय अध्याय के उपसंहार पद्य में डा० सर झा ने कहा है कि इस व्याख्या में मुझ से जो भ्रम प्रमादजन्य कालुष्य आया हो, उसका मार्जन मेरे माता पिता के पुण्य प्रभाव से हो जायेगा। डा० सर झा का माता पिता की तपस्विता के प्रति दृढ़ विश्वास यहाँ अभिव्यक्त होता है।

यत्किञ्चिदाविलं ग्रन्थे बुद्धिदोषेण जायते।
पित्रोः पुण्यप्रभावेण सर्वं तद् विमली भवेत्।।

चतुर्थ अध्याय के उपसंहार में इस तरह कुछ भी नहीं कहा गया है। पञ्चम अध्याय के उपसंहार में डा० सर झा ने अपना परिचय दिया है जो इस प्रकार है –

श्रीमच्छ्रोत्रियमैथिलेषु विदितः सत्कर्मचूडामणिः
गायत्रीचरणाम्बुजप्रणयधृक् श्रीतीर्थनाथोऽभवत्।
श्रीमन्मैथिलभूमहेन्द्रतनया श्रीवासुदेवात्मजा
पत्नी तस्य कुलद्वये शुभकरी श्रीरामकाशी परा।
ज्येष्ठस्तत्तनयः सदाशिवरतः श्री विन्ध्यनाथः सुधीः
तत्पश्चाद् गणनाथ नामक इह श्रीतारिणीतत्परः।
गङ्गानाथ इह स्वतातजननीभक्तस्तदीयानुजः
तेनाकारि सताम्मुदे मृदुधिया सद्भाष्यखद्योतकः।।

यहाँ विन्ध्यानाथ झा सबसे बड़े भाई को शिव भक्त अव्यवहित बड़े भाई गणनाथ झा को तारिणी भगवती का सेवक और अपने को माता पिता का भक्त कहा है। इन्होंने इसके अन्तिम चरण में कहा है कि अपनी कोमल बुद्धि से विद्वानों के प्रसन्नार्थ न्यायभाष्य रूपी सद्भाष्य का खद्योतनामक व्याख्या की रचना की। आगे कहते हैं –

गहनस्यास्य भाष्यस्य व्याख्याने यत्प्रवर्तनम्
साहसस्यापराधोऽयं क्षन्तव्यो न्यायवेदिभिः।
पित्रोस्तीर्थलता तीर्थनाथयोः पादयोऽर्पितः
भ्रातुः श्रीविन्ध्यनाथस्य प्रभोर्लक्ष्मीश्वरस्य च।।

कठिनतम इस न्याय भाष्य की व्याख्या में जो प्रवृत्त हुआ हूँ – यह एक साहसिक कार्य है। न्याय के विद्वान् इसके लिए क्षमा करेंगे। यह ग्रन्थ तीर्थलता (माता) तीर्थनाथ (पिता) अग्रज श्री विन्ध्यनाथ तथा मिथिलेश होने के नाते प्रभु लक्ष्मीश्वर सिंह के चरणों में अर्पित है।

इसके बाद कोलोफोन है **इतिमहामहोपाध्यायमैथिलगङ्गानाथझाशर्मणा कृतः खद्योतः। समाप्तश्चायं ग्रन्थः।**

इस ग्रन्थ के आदि में डा० सर झा ने दो पृष्ठों के (प्रीफेस) आमुख में सूत्रपाठ एवं भाष्य पाठ के विषय में समस्या प्रदर्शित कर समाधान करने का प्रयास किया है। म०म० गङ्गाधर शास्त्री द्वारा सम्पादित न्यायभाष्य तथा अनेक स्थलों से सूत्रपाठ का संग्रह कर इसको प्रामाणिक सूत्रपाठ के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसमें विषयसूची के अतिरिक्त, सूत्रों की वर्णानुक्रम सूची, वाचस्पति मिश्र कृत न्यायसूची निबन्ध, सटीक न्याय भाष्य की अकाराद्यनुक्रम से विषयसूची भी दी गयी है।

ग्रन्थ सम्पादक ढुण्ढिराज शास्त्री ने न्यायभाष्य के नवीन संस्करण की आवश्यकता, न्यायशास्त्र का महत्त्व, न्यायसूत्र के रचयिता गोतम ऋषि का देशकाल के निर्णय के साथ परिचय, न्याय भाष्यकार वात्स्यायन का परिचय, भाष्यचन्द्रकार रघूत्तम एवं विद्यासागर गङ्गानाथ झा का परिचय, न्यायदर्शन के विषयों का संक्षिप्त विवरण आदि पर अच्छी तरह संस्कृत में प्रकाश डाला है।

इसके पश्चात् १९४०-४१ ई० में ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना से केवल खद्योत के साथ न्यायभाष्य का प्रकाशन द्वितीय संस्करण के रूप में हुआ। इसमें न्यायसूची निबन्ध, सूत्रों का वर्णानुक्रम सूची आदि के साथ विद्यासागर डा० सर झा की छोटी सी भूमिका दर्शन विषय पर है जो बहुत उपादेय एवं उत्तरसाधक का उपकारक तथा ज्ञानवर्धक है।

इनके समय में तीन विद्वान् न्यायसूचीनिबन्ध को बहुत आदर की दृष्टि से देखते थे – महामहोपाध्याय डा० सर झा, महामहोपाध्याय फणिभूषण तर्कवागीश तथा महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज। वृद्धवाचस्पति मिश्र ने यहाँ न्यायदर्शन का प्रकरण विभाग, प्रत्येक प्रकरणगत सूत्रसंख्या, सूत्रगत पदसंख्या तथा सूत्रगत अक्षर की संख्या तक गिनकर उपसंहार में कह दिया है।

काशी के सुधी समाज में डा० सर झा की इस खद्योत व्याख्या की पर्याप्त प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। इससे उत्साहित होकर डा० सर झा ने मण्डन मिश्र की कृति मीमांसानुक्रमणिका की मीमांसा मण्डन नामक व्याख्या का प्रणयन किया और १९३० ई० में चौखम्बा संस्कृत सीरीज काशी से उसका प्रकाशन करबाया।

मीमांसानुक्रमणिका में सम्पूर्ण मीमांसाशास्त्र के अधिकरणों (विचारणीय विषयों) का पद्यबद्ध विवरण दिया गया है। प्रत्येक चरण में प्रत्येक अधिकरण संक्षेप में उक्त है। बिना व्याख्या का इसका बोध कठिन था किन्तु मीमांसाशास्त्र के विद्यार्थी के लिए यह बहुत उपादेय है। अपने गुरु महामहोपाध्याय चित्रधर मिश्र से इस ग्रन्थ की उपादेयता की अनुशंसा पाकर इसकी व्याख्या के प्रणयन एवं प्रकाशन में डा० सर झा प्रवृत्त हुए थे।

सोलहवीं शताब्दी में माधवाचार्य ने जैमिनीयन्यायमाला तथा उसकी स्वोपज्ञ व्याख्या विस्तर नाम से लिखकर मीमांसा के विद्यार्थी का उपकार किया है। उस समय तक प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्र की यह कृति मीमांसानुक्रमणिका का प्रचार प्रसार नहीं हो पाया था। हस्तलेख रहने से कहीं खो गया था। डा० सर झा को यह कृति उनके मित्र प० गोविन्ददास ने दिया था। कभी पण्डित गोविन्द दास ने प्रसिद्ध वेदान्ती अद्वैतसिद्धि के प्रणेता मधुसूदन सरस्वती का पुस्तकालय खरीद किया था, उसी में उनको मीमांसानुक्रमणिका मिली थी – यह बात डा० सर झा ने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा में लिखी है। इस मीमांसा मण्डन के साथ प्रकाशित मीमांसानुक्रमणिका के प्रकाशन से डा० सर झा को सुधी समाज ने यथार्थ पण्डित माना और इस ग्रन्थ का प्रभूत आदर हुआ। इसके पहले इनको पण्डित समाज अंगरेजिया पण्डित या भूमिकापण्डित कहता रहा। इसका तात्पर्य यह था कि ये किसी ग्रन्थ की भूमिका लिख सकते हैं ग्रन्थ की पंक्ति का परिष्कारार्थ नहीं समझा सकते हैं। क्योंकि अंग्रेजी माध्यम से इन्होंने संस्कृतविद्या पढ़ी है।

काशी में क्वीन्स कॉलेज में प्रिन्सिपल होने से पहले ही नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने आस्तिक दर्शनों के पदार्थ परिचयात्मक पुस्तक हिन्दी में लिखने का इनसे अनुरोध किया था। उक्त सभा की इच्छा थी कि जैसे अंग्रेजी में मैक्समूलर ने दर्शनों का परिचय लिखा है उसी तरह हिन्दी में डा० सर झा लिखें। डा० सर झा ने उक्त सभा का अनुरोध तो स्वीकार किया किन्तु मैक्समूलर की सरणि पर ग्रन्थ लिखने के लिए तैयार नहीं हुए। इनका मानना था कि मैक्समूलर का विवेचन प्रत्येक दर्शन पर बहुत संक्षिप्त है। न्याय कुसुमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने कहा है कि जितना कहने से पदार्थ

(विषय) बोधगम्य हो (उपपन्न हो) उतना अवश्य कहना चाहिये – **यावदुक्तोपपन्न इति नैयायिका:।** उदयनाचार्य के इस वचन से डा० सर झा सर्वथा सहमत थे। इसके साथ प्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ की उक्ति का भी डा० सर झा आदर करते थे – **नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नान-पेक्षितमुच्यते।** न तो बिना मूल की बात लिखना चाहिए नहीं अनपेक्षित (अनावश्यक) बात कहना चाहिए। नागरी प्रचारिणी सभा काशी से प्रकाशित न्यायप्रकाश तथा वैशेषिकदर्पण में डा० सर झा इन सूक्तिओं का अनुसरण करते हुए अपनी स्वतन्त्र सरणि से इन दोनों शास्त्रों के पदार्थों का परिचय प्रस्तुत किया है।

चूँकि इन दोनों ही पुस्तकों के प्रकाशन में नागरी प्रचारिणी सभा काशी की इस मद में स्वीकृत राशि खर्च हो गये अत: संकल्पित पूर्वमीमांसा, वेदान्त, सांख्य और योग दर्शन पर हिन्दी में पुस्तक लिखवाने से वह संस्था विरत हो गयी।

सौभाग्य से न्यायप्रकाश पढ़ने का अवसर मुझे प्राप्त हुआ। इसमें पाश्चात्य तर्कशास्त्र के साथ भारतीय तर्कशास्त्र का यथावसर तुलनात्मक चिन्तन डा० सर झा ने किसी किसी पदार्थ के विचार में प्रस्तुत किया है। इसको आदर्श मानकर पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दर्शन का तुलनात्मक चिन्तन विशद एवं विस्तृत रूप में सम्प्रति नैयायिकों को करना चाहिये। आजकल इस क्षेत्र में इस प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ही विचार में नवीनता संभव है। प्राचीन न्याय की चिन्तनधारा उदयनाचार्य के वाद अवरुद्ध हो गयी। नव्यन्याय की चिन्तनधारा सर्वतन्त्र स्वतन्त्र धर्मदत्त (बच्चा) झा, इनके सतीर्थ्य नैयायिक प्रवर प० लोकनाथ झा, महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्र, शास्त्रार्थ मार्तण्ड मार्कण्डेय मिश्र, दु:खमोचन झा तथा राँटी, मधुबनी निवासी नैयायिक शशिनाथ झा के पश्चात् मन्दगति से प्रवाहित होने लगी।

डा० सर झा को संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा पर जितना अधिकार था उतना हिन्दी भाषा पर नहीं। न्याय प्रकाश की भूमिका में इन्होंने स्वयं कहा है कि कुछ हिन्दी के अभिज्ञ सुधीजन न्याय प्रकाश की भाषा के किसी से परिष्कार–

परिमार्जन का परामर्श दिया था। अतः उस परामर्श के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ किन्तु यदि ग्रन्थ का गुण मेरा है तो इसका दोष भी मेरा ही माना जाएगा। अतः इसके लिए मुझे विशेष चिन्ता नहीं है। मैंने हिन्दी के अभिज्ञ सुधी से इसका परिष्कार नहीं करवाया।

इस कृति को डा० सर झा ने माता पिता तथा अभिभावक महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह के साथ अपने अग्रज विद्वद्भूषण विन्ध्यनाथ झा को समर्पित किया है। भूमिका के अन्त मे इसका बोधक पद्य इस प्रकार है –

पित्रोस्तीर्थलतातीर्थनाथयोः पादयोरिदम्।
भ्रातुः श्री विन्ध्यनाथस्यार्पितं लक्ष्मीश्वरस्य च।।

इस न्यायप्रकाश का दूसरा संस्करण रत्ना प्रेस वाराणसी से २००१ ई० में प्रकाशित हुआ है। डा० शशिनाथ झा ने (कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय के व्याकरण विभाग के आचार्य ने) इसका सम्पादन किया है। इसमें डा० सर झा की भूमिका नहीं है, उसके स्थान पर डा० शशिनाथ झा ने अपनी भूमिका दी है।

इस न्याय प्रकाश में डा० सर झा के द्वारा आलोचना की दृष्टि से की गयी पदार्थ विवेचना का दिग्दर्शन अनुचित नहीं होगा। पदार्थों के साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण की दृष्टि का परिचय होगा। प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों का यथास्थान मतभेद तथा अपेक्षित होने पर पाश्चात्य तर्कशास्त्र के साथ तुलनात्मक चिन्तन एवं कुछ पदार्थों के स्वरूप परिचय से पाठकों को परिचय होगा।

१) मीमांसा की दृष्टि में जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह यथार्थ ही होता है पश्चात् उसके मिथ्या–प्रतीत होने पर उस ज्ञान के विषय अथवा उसके उपाय (कारण) में दोष माना जाता है, ज्ञान में किसी प्रकार का दोष मान्य नहीं है। जिस विषय को मैंने जैसा समझा वह (विषय) वैसा नहीं है अथवा जिस इन्द्रिय से जिस अनुमान से जिस शब्द से मुझे ज्ञान हुआ वह शुद्ध नहीं दोषयुक्त था अतः ज्ञान मिथ्या या विपर्यस्त प्रतीत हुआ। तात्पर्य यह है कि ज्ञान में किसी प्रकार का दोष कभी भी नहीं रहता है।

नैयायिक की दृष्टि में जिस कारण से ज्ञान उत्पन्न होता है वह कारण यदि निर्दुष्ट है तो ज्ञान प्रमा अर्थात् यथार्थ होगा। यदि ज्ञान के कारण में दोष होगा तो

वह ज्ञान अयथार्थ होगा। इनकी दृष्टि से ज्ञान में ही दोष रहता है विषय में नहीं। घट, पट आदि विषय तो घट पट आदि ही रहेगा केवल हमारे ज्ञान में दोष रहने से उक्त वस्तु का ज्ञान अप्रमा (अयथार्थ) होता है।

२) प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसङ्ग में प्राचीन तथा नवीन नैयायिक के मतभेद का इन्होंने विशदता से उपपादन प्रतिपादन किया है।

जिज्ञासा होती है कि यथार्थ ज्ञानात्मक प्रमा के किस कारण को प्रमाण कहते हैं? प्रमा का समवायिकरण होता है आत्मा, असमवायि कारण होता है विषय के साथ इन्द्रिय का संयोग, इन्द्रिय के साथ मन का संयोग तथा मन के साथ आत्मा का संयोग अर्थात् आत्मा का मन तथा इन्द्रिय से संयोग। प्रमा के ये ही कारण प्रमाण कहे जाते हैं। जिस विषय का ज्ञान होता है वह विषय होता है उस ज्ञान का निमित्त कारण।

महर्षि गौतम ने इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न ज्ञान को प्रमाण कहा है – **इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानम् अव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।** १।१।४। यहाँ ज्ञान का तीन विशेषण अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि तथा व्यवसायात्मक साभिप्राय उक्त है।

इन्द्रिय और विषय के संयोग से जिस वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है उसका स्वरूप यदि शब्द से कहा जाए तो वह ज्ञान शब्द से व्यपदेश्य हो जाएगा (शब्द से कहने योग्य) हो जाएगा, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होकर शाब्दज्ञान हो जायेगा। अतः अव्यपदेश्य पद सूत्र में उक्त है।

इन्द्रिय और विषय के संयोग से जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह 'यह कोई वस्तु है मेरे समक्ष में' इस प्रकार का होता है तत्काल उस वस्तु के नाम रूप आदि का ज्ञान नहीं होता है – इसी को निर्विकल्पक ज्ञान कहते हैं। कुछ क्षण के बाद उसी वस्तु का सविकल्पक प्रत्यक्ष होता है कि यह जो मेरे समक्ष में विद्यमान वस्तु है वह लाल रंग का पुस्तक है।

शिशुपाल वध महाकाव्य के आरम्भिक पद्य में इस निर्विकल्पक सविकल्पक प्रत्यक्ष भेद का उदाहरण देखा जा सकता है –

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
वपुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः।।

आकाश मार्ग से नारद को आते देखकर श्रीकृष्ण को प्रतीत हुआ कि एक तेजः पुञ्ज नीचे उतर रहा है, पुनः ध्यान से देखने पर प्रतीत हुआ कि यह कोई शरीरी है। पुनश्च अंग प्रत्यङ्ग देखने पर प्रतीत हुआ कि यह कोई पुरुष है पश्चात् नजदीक आने पर ज्ञात हुआ कि ये महर्षि नारद हैं।

जो वस्तु यथार्थ में जैसा रहता है उस वस्तु का उसी रूप में यदि प्रत्यक्ष होता है तो वह प्रत्यक्ष अव्यभिचारी होता है। चूँकि यह ज्ञान सन्दिग्ध नहीं है अतः निश्चयात्मक होने से व्यवसायात्मक होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के तीनों विशेषण सार्थक उपपन्न होते हैं।

वृद्ध नैयायिक जयन्त भट्ट की दृष्टि से प्रत्येक कार्य किसी एक कारण से नहीं अपितु कारण की सभी सामग्री के रहने पर उत्पन्न होता है। जयन्त भट्ट प्रत्यक्ष प्रमा की कारणसामग्री को ही प्रमाण मानते हैं। अन्य नैयायिक इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रमाण कहते हैं। इनकी दृष्टि में क्रियासिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक कारण अर्थात् चरम कारण को करण कहा गया है। प्रत्यक्ष प्रमा का करण उक्त सन्निकर्ष ही प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में मान्य है। महर्षि गौतम का प्रत्यक्ष लक्षण सूत्र भी इसी का समर्थन करता है।

नवीन नैयायिक व्यापारवान् कारण को 'करण' कहते हैं। भर्तृहरि का इस सन्दर्भ में पद्य है कि जिसके व्यापार के पश्चात् क्रिया की परिनिष्पत्ति होती है उसको 'करण' कहते है –

क्रियायाः परिनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा तेन करणं तत्तदा स्मृतम्।।

इसके अनुसार इन्द्रिय ही प्रत्यक्ष प्रमा का करण होने से प्रमाण होता है।

केशव मिश्र ने तर्कभाषा में इन सभी मतों का समन्वय करते हुए कहा है कि भिन्न भिन्न अवस्था में इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष तथा इस सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान – ये तीनों ही प्रत्यक्ष प्रमाण होते हैं। प्रथम पक्ष में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष उस

का फल होता है, दूसरे पक्ष में सविकल्पक प्रत्यक्ष फल होता है और तृतीय पक्ष में हान उपादान बुद्धि – यह अनुपयोगी होने से त्याज्य है, यह उपयोगी होने से उपादेय (ग्राह्य) है – उसका फल होता है।

विषय के साथ इन्द्रिय के संयोग से जो विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसकी प्रक्रिया यह है। जब किसी वस्तु का ज्ञान होता है यथा पुस्तक को हाथ से छूता हूँ तो हस्तगत त्वगिन्द्रिय से पुस्तक का स्पार्शन प्रत्यक्ष होता है। उसी को जब हम आँख से देखते हैं तब आँख की ज्योति बाहर होकर पुस्तक पर पड़ती है और पुस्तक को हम देखते हैं। यही है पुस्तक का चाक्षुष प्रत्यक्ष। जब हम शब्द सुनते हैं तो श्रवणेन्द्रिय (कान) से आकाश बाहर होकर शब्द को ग्रहण करता है और उससे हम शब्द सुनते हैं। अतः नैयायिक इन्द्रिय को प्राप्यकारी कहते हैं।

अन्य दार्शनिक इससे सहमत नहीं है। इनका कहना है कि अन्य इन्द्रियाँ तो बाहर जाकर विषय का ग्रहण करती है किन्तु आँख और कान ऐसे नहीं है। अतः ये दोनों अप्राप्यकारी मान्य हैं।

इसका प्रतिवाद करते हुए नैयायिक ने अपने पक्ष में युक्ति दिखायी है कि यदि विषय पर आँख की ज्योति का पड़ना नहीं मानेंगे तो समीप में विद्यमान सभी विषयों का चाक्षुष प्रत्यक्ष होने लगेगा, किन्तु जिस विषय पर आँख की ज्योति पड़ती है उसी को व्यक्ति देख पाता है। अतः इन्द्रिय को प्राप्यकारी मानना आवश्यक है। यह बात न्यायवार्त्तिक में स्पष्ट रूप से कहा गया है।

३) न्याय शास्त्र में अनुमान प्रमाण का विचार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत है। डा० सर झा ने अनुमान प्रमाण के विचार के समय पाश्चात्य तर्कशास्त्र के साथ इसका तुलनात्मक परिचय भी यथावसर यहाँ प्रस्तुत किया है।

व्याप्तिविशिष्ट पक्षधर्मता के ज्ञानरूप परामर्श से अनुमान होता है। साध्य के साथ हेतु का सहचार दर्शन – जहाँ धूम रहता है वहाँ आग अवश्य रहती है – ऐसा व्यवहार होता है। इसी को व्याप्ति कहते हैं। चूँकि पर्वत पर धूम देखा जाता है अतः वहाँ आग अवश्य है – यही हुई पक्षधर्मता। इस प्रकार व्याप्ति एवं पक्षधर्मता के ज्ञान को परामर्श कहते हैं। इससे साक्षात् अनुमान होता है कि पर्वत पर आग है, क्योंकि वहाँ धूम देखा जाता है।

कुछ नैयायिकों को इतने से ही सन्तोष नहीं होता है। स्वयं समझने के लिए तो उक्त अनुमान का क्रम ठीक ही है। किन्तु दूसरों को समझाने के लिए इस अनुमान को पाँच भागों में इन्होंने विभक्त किया है, जिसे अवयव कहते हैं। ये पाँच अवयव हैं प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण, उपनय तथा निगमन।

साध्य का कथन है प्रतिज्ञा अर्थात् अनुमान से जिस विषय को सिद्ध करना रहता है, उस विषय का कथन है प्रतिज्ञा, यथा पर्वत पर आग है। जिस चिह्न से साध्य को सिद्ध किया जाता है उसका सूचक पद होता है हेतु। यथा पर्वत पर धूम है। जहाँ साध्य और हेतु को एकत्र देखा जाता है उसे कहते हैं उदाहरण, यथा रसोईघर। यहाँ आग और धूम का दर्शन नियम से होता है। उक्त हेतु की विद्यमानता की स्पष्ट सूचना जिस वाक्य से होता है उसे उपनय कहते हैं। यथा पर्वत पर धूम है – यह उपनय है। इस हेतु से साध्य सिद्ध हुआ – इस कथन को कहते हैं निगमन। यथा अतः पर्वत पर आग है – पर्वतो वह्निमान्–प्रतिज्ञा, धूमात् हेतु, यथा महानसम् – उदाहरण, अतः पर्वतः धूमवान् उपनय, तस्मात् धूमस्य पर्वते विद्यमानत्वात् वह्निमान् पर्वतः यह हुआ निगमन।

वैशेषिक दर्शन के आचार्य प्रशस्तपाद इन पाँचों अवयवों को भिन्न नाम से कहते हैं प्रतिज्ञा, अपदेश, निदर्शन, अनुसन्धान तथा प्रत्याम्नाय।

महर्षि गौतम की तरह प्रशस्तपाद आचार्य को भी अनुमान का यह क्रम वादी तथा प्रतिवादी के विचार के अवसर पर मान्य है। यही कारण है कि परार्थ अनुमान में पञ्चावयव वाक्य पर जोड़ दिया गया है।

वादी तथा प्रतिवादी जब किसी विषय पर सन्देह उपस्थित कर विचार आरंभ करता है तब अनुमान इस प्रकार होता है। जल द्रव्य है कि नहीं – ऐसा संशय उपस्थित होने पर जब वादी कहता है कि जल द्रव्य है तो यह प्रतिज्ञा हुई। प्रतिवादी ने कहा कि यह आप कैसे समझते हैं तो वादी यहाँ हेतु प्रदर्शित करता है कि जल में रूप है। प्रतिवादी पूछता है कि जल में रूप रहने से वह द्रव्य कैसे हो सकता है, तो वादी कहता है कि जिसमें रूप रहता है वह द्रव्य अवश्य होता है। यथा घोड़ा पुस्तक तथा वृक्ष आदि – यह हुआ उदाहरण। प्रतिवादी पुनः पूछता है कि यह तो समझा कि वृक्ष, घट, पुस्तक तथा घोड़ा में रूप रहने से वे

द्रव्य हैं किन्तु इससे यह कैसे समझते हैं कि जल भी द्रव्य ही है, इसके उत्तर में वादी कहता है कि जल में भी रूप है – इसे कहते हैं उपनय। अब उपर्युक्त चारों ही विषयक वचनों को एकत्र कर दृढ़ता से कहा जा सकता है कि इससे सिद्ध हुआ कि जल द्रव्य है – यह हुआ निगमन वचन।

नवीन नैयायिक पाँच अवयव मानना आवश्यक नहीं समझते हैं। इनकी दृष्टि में तीन ही अवयव आवश्यक है – प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण। इन्हीं तीन अवयवों से किसी भी वस्तु को अनुमान से सिद्ध किया जा सकता है। मीमांसक और वेदान्तियों ने भी इसका समर्थन किया है। बौद्ध दार्शनिक दो ही अवयव प्रतिज्ञा और हेतु मानते हैं। किन्तु न्यायवार्त्तिककार ने इन सभी मतों को युक्ति के आधार पर असंगत कहा है।

डा० सर झा की दृष्टि में प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि प्रत्यक्ष से केवल वर्तमान काल के विषय जाने जा सकते हैं और अनुमान से भूत, वर्तमान और भविष्य काल के विषय भी जाने जाते हैं।

अनुमान का विभाग अनेक प्रकारों से किया गया है। नैयायिकों ने पहले इसको दो भागों में बाँटा है। अपने मन में विश्वास के लिए किया गया अनुमान को स्वार्थ कहा गया है। दूसरों के विश्वास कराने के लिए (समझाने के लिए) किया गया अनुमान परार्थ कहलाता है। स्वार्थ अनुमान में अवयवों का शब्द से कथन आवश्यक नहीं है। मानसिक व्यापार अपेक्षित है। किन्तु परार्थ अनुमान में पाँचों अवयव वाक्यों का कथन आवश्यक है। अन्यथा दूसरों के अनुमान का संशय निवारित नहीं होगा। इसी दृष्टि से बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तराचार्य ने कहा है कि स्वार्थानुमान ज्ञानात्मक होता है और परार्थानुमान शब्दात्मक।

परार्थानुमान के शब्दात्मक होने से कुछ नैयायिक इसको अनुमान नहीं मानकर शाब्दज्ञान मानते हैं। इसके समाधान में सांप्रदायिक का कहना है कि अवयवों के शब्दशः उच्चारण के कारण परार्थ अनुमान शाब्दज्ञान नहीं हो सकता है अपितु इसमें विलक्षणता है। परार्थानुमान शाब्दज्ञान तब होता यदि जल द्रव्य है – इतना कहने से मन में निश्चय हो जाता कि यथार्थतः जल द्रव्य ही है। ऐसा तो होता नहीं है अपितु पाँचों अवयव वाक्यों

को सुनने के बाद विचार करने पर मन में निश्चय होता है कि जल द्रव्य ही है। फलतः परार्थानुमान शाब्द ज्ञान नहीं हो सकता है।

महर्षि गौतम ने अनुमान का स्वार्थ और परार्थ विभाग नहीं कहा है। इन्होंने इसका तीन प्रकार कहा है – पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट। (१।१।५। न्याय सूत्र)

जहाँ कारण से कार्य का अनुमान होता है उसे पूर्ववत् अनमान कहते हैं। यथा बादल देखकर वृष्टि का अनुमान। जल का कारण है बादल – यह प्रसिद्ध है। जहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है उसे शेषवत् कहते हैं। नदी में वृद्धि (बाढ़–जलाधिक्य) देखकर अनुमान होता है कि कहीं अच्छी वर्षा हुई है। नदी में पानी की वृद्धि (वाढ़) वर्षा होने पर ही संभव है।

एक स्थान में एक अवस्था में किसी वस्तु को देखकर पुनः उसी अवस्था में अन्यत्र उसको देखकर वही वस्तु यहाँ होगा – इस प्रकार का अनुमान होता है जो सामान्यतो दृष्ट अनुमान कहलाता है। हम बारम्बार देखते हैं कि एक वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाता है, इससे अनुमान होता है कि वह वस्तु चलता है। यथा सूर्य चलता है पूर्व दिशा में विद्यमान सूर्य अपराह्न में पश्चिम दिशा में दृष्ट होता है।

न्यायभाष्य में अनुमान सूत्र की दूसरे प्रकार से भी व्याख्या की गयी है। दो वस्तुओं को एकत्र देखने पर कुछ काल के बाद एक को देख कर जो दूसरे वस्तु का अनुमान किया जाता है उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं। जैसे रसोईघर में धूम तथा अग्नि को एक स्थान पर देखकर कुछ काल के बाद पर्वत पर धूम देखकर अग्नि को बिना देखे भी अग्नि का अनुमान किया जाता है।

एक वस्तु के विषय में जितने ज्ञातव्य रहते हैं, उनमें से सब की उपस्थिति नहीं होने पर जो अवशिष्ट रह जाता है, उसका अनुमान शेषवत् कहलाता है। यथा शब्द द्रव्य है या गुण है या कर्म – इसको जानने के लिए शब्द द्रव्य या कर्म नहीं हो सकता है अतः अनुमान होता है कि वह गुण है।

जब दो वस्तुओं का सम्बन्ध मुझे ज्ञात रहता है तब उन दोनों में से एक को देखने योग्य नहीं रहने पर भी दूसरे देखने योग्य (ज्ञान योग्य) वस्तु का अनुमान सामान्यतो दृष्ट अनुमान होता है। जैसे इच्छा तथा द्वेष आदि हेतु से

आत्मा का अनुमान सामान्यतो दृष्ट अनुमान होता है।

पूर्ववत् अनुमान में जिसका अनुमान किया जाता है उस प्रकार का वस्तु दृष्ट रहता है या उसे देखा जा सकता है। किन्तु सामान्यतो दृष्ट में जिसका अनुमान किया जाता है, उसका लक्षण या उस प्रकार का वस्तु कभी दृष्ट नहीं हो सकता है – यही भेद है पूर्ववत् तथा सामान्यतो दृष्ट अनुमान में। कुछ नैयायिक पूर्ववत् तथा सामान्यतो दृष्ट को 'वीत' तथा शेषवत् को 'अवीत' कहते हैं।

उपर्युक्त अनुमान से यह वस्तु है – यही सिद्ध होता है। अतः इसको 'अन्वयी' अनुमान कहते हैं। यहाँ हेतु के रहने पर साध्य का अस्तित्व मान्य है। अतः एक के रहने पर दूसरे का रहना रूप अन्वयी का लक्षण (तत्सत्त्वे तत्सत्ता) समन्वित होता है।

ऐसा भी अनुमान होता है कि जहाँ ऐसी वस्तु नहीं है – यह सिद्ध किया जाता है, इसे 'व्यतिरेकी' अनुमान कहते है। प्राचीन नैयायिक 'व्यतिरेकी' अनुमान नहीं मानते हैं। इनका कहना है कि इसको दूसरे प्रकार से भी कहा जा सकता है कि ऐसी वस्तु का अभाव है। अतः यह 'अन्वयी' अनुमान में गतार्थ हो सकता है। प्राचीन ग्रीक तर्क शास्त्री भी इस प्राचीन नैयायिक मत से सहमत हैं। इन ग्रीक तर्कशास्त्री का कथन है कि सभी शुद्ध अनुमान Barbara के रूप में परिवर्तित किया जा सकता है।

नवीन नैयायिक दूसरे प्रकार से अनुमान के भेदों को कहा है (१) केवलान्वयी (२) केवल व्यतिरेकी तथा (३) अन्वय व्यतिरेकी। जिस हेतु का कहीं नहीं रहना संभव ही नहीं हो सर्वत्र जिसकी विद्यमानता हो उसे केवलान्वयी कहते हैं। यथा सभी वस्तु अभिधेय है प्रमेय होने से – **सर्वमभिधेयं प्रमेयत्वात्** (प्रत्येक वस्तु का कुछ नाम अवश्य होता है क्योंकि वह ज्ञान का विषय होता है)। इसकी सर्वत्र विद्यमानता से कहीं भी नहीं रहना संभव ही नहीं है। अतः इस हेतु से किया गया अनुमान केवलान्वयी कहलाता है।

जो हेतु साध्य के अधिकरण में कभी भी नहीं रहता है, वह केवल व्यतिरेकी होता है। इस हेतु से किया गया अनुमान केवल व्यतिरेकी कहलाता है। जैसे घट जल या आग नहीं है, क्योंकि घट में गन्ध पाया जाता है। यहाँ

गन्ध की प्राप्ति जल या आग में नहीं हो सकता है। अतः यह केवल व्यतिरेकी अनुमान कहलाता है।

जो हेतु ऐसा है कि कहीँ कहीँ पाया जाता है कहीँ कहीँ नहीं भी पाया जाता है उस हेतु को अन्वयव्यतिरेकी कहते हैं। इस हेतु से साध्य की सिद्धि अन्वयव्यतिरेकी अनुमान कहलाता है। जहाँ धूम रहता है वहाँ आग भी अवश्य रहती है जैसे रसोई घर में। किन्तु जहाँ आग नहीं रहती है, वहाँ धूम भी नहीं रहता है जैसे तालाब में (जलाशय)। ऐसे हेतु से साध्य की सिद्धि अन्वयव्यतिरेकी अनुमान है।

चूँकि यहाँ हेतु ही का विभाग हुआ है अतः प्राचीन नैयायिक इसे अनुमानका विभाग नहीं मानते हैं। प्राचीन नैयायिक वीत तथा अवीत के भेद से अनुमान के दो भेद मानते हैं – यह पहले ही कहा जा चुका है। सूत्रकार ने पूर्ववत् शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट भेद कहकर अनुमान का तीन प्रकार कहा है। इसका स्वरूप एवं उदाहरण पहले ही दिखाया जा चुका है।

अनुमान के जो पाँच अवयव कहे जा चुके हैं, उनमें पक्ष, साध्य तथा उदाहरण की अपेक्षा हेतु का विचार करना आवश्यक है। क्योंकि हेतु ही अनुमान का मूल है। व्यवहृत हेतु सत् है या असत्, इसका विचार पहले आवश्यक है। हेतु का सत् स्वरूप (शुद्ध स्वरूप) वह है, जो धर्म दृष्टान्त में रहता है और दृष्टान्त से भिन्न में नहीं रहता है। वही धर्म यदि पक्ष में (जहाँ साध्य को सिद्ध करना है) रहता है तो वह सद्धेतु कहलाता है। इसी को शब्दान्तर से कहा गया है कि जो हेतु पक्ष तथा सपक्ष में रहता है और विपक्ष में नहीं रहता है वह सद्धेतु है। जहाँ साध्य को सिद्ध करना है वह पक्ष कहलाता है। जहाँ साध्य के साथ हेतु निश्चित रहता है वह सपक्ष और जहाँ निश्चित रूप से साध्य के साथ हेतु नहीं रहता है वह विपक्ष माना गया है। विपक्ष में हेतु का नहीं रहना आवश्यक है। जैसे पक्ष–पर्वत में धूम का रहना, सपक्ष रसोईघर में धूम का रहना तथा विपक्ष जलह्रद में धूम का नहीं रहना सिद्ध है। अतः आग को (साध्य को) सिद्ध करने के लिए धूम सद्धेतु होता है।

प्राचीन नैयायिक ने हेतु के इन तीन प्रकारों को नहीं मानकर दो ही प्रकार माना है – साधर्म्य (सादृश्य) हेतु और वैधर्म्य हेतु। साधर्म्य (सादृश्य) से वस्तु का (साध्य का) साधक हेतु साधर्म्य हेतु कहलाता है। यथा पक्ष तथा सपक्ष में विद्यमान हेतु साधर्म्य (सादृश्य) से साध्य को सिद्ध करता है। रसोई घर में आग के साथ देखा गया धूम का साधर्म्य (सादृश्य) पर्वत पर देखकर धूम से आग का अनुमान होता है।

जहाँ जिस वस्तु को अनुमान से सिद्ध करना हो, वहाँ उस वस्तु के साथ उससे भिन्न किसी ज्ञात वस्तु के वैधर्म्य से यदि उस वस्तु को सिद्ध किया जाए तो वह वैधर्म्य हेतु होता है। यथा मेरा शरीर आत्मा से शून्य नहीं है, क्योंकि आत्मा के अभाव में शरीर में प्राण नहीं रहता है। चूँकि मेरे शरीर में प्राण है तथा ईंट पत्थर में प्राण दृष्ट नहीं है। अतः दोनों के वैधर्म्य हेतु से, जीवन से (प्राणादि के अस्तित्त्व से) शरीर की सात्मता सिद्ध होती है। साधर्म्य तथा वैधर्म्य हेतु में भेद यही है कि साधर्म्य हेतु किसी वस्तु का स्वरूप सिद्ध करता है, अतः वह अन्वयी होता है और वैधर्म्य हेतु से (जिसे व्यतिरेकी हेतु भी कहते हैं) किसी वस्तु का स्वरूप जो अन्य लोगों के द्वारा भी मान्य है, उससे भिन्न वस्तु की सिद्धि होती है। पहले ही कहा जा चुका है कि नवीन नैयायिक तीन प्रकार का हेतु मानते हैं। अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी। इसका ज्ञान स्पष्ट रूप से इस प्रकार से होता है। अन्वयव्यतिरेकी हेतु धूम से आग का अनुमान होता है। प्रमेय हेतु से अभिधेय का अनुमान होता है केवलान्वयी और अन्य सबसे भिन्न है पृथिवी, गन्ध रहने से यह हुआ केवलव्यतिरेकी।

अन्वय व्यतिरेकी हेतु पक्ष तथा सपक्ष में रहता है तथा विपक्ष में नहीं रहता है। केवलान्वयी हेतु का विपक्ष नहीं होता है तथा केवल व्यतिरेकी हेतु का सपक्ष नहीं होता है।

यद्यपि व्यापक से व्याप्य का अनुमान अर्थात् बड़ी जाति से छोटी जाति का अनुमान होना संगत है। जैसे धूम से आग का अनुमान अन्वय व्यतिरेकी हेतु से सर्वथा उचित है।

केवलान्वयी में व्याप्यव्यापक भाव नहीं है, दोनों ही (हेतु और साध्य) व्यापक ही है। इसका उत्तर देते हुए नैयायिक कहते हैं कि व्यापक से व्याप्य

का अनुमान अवश्य मान्य है किन्तु केवल वही मान्य नहीं है। जिन दो वस्तुओं में नित्य संबन्ध रहता है उनमें से एक को साध्य और अपर को हेतु अर्थात् अनुमापक माना जा सकता है। हेतु का नियामक नियत संबन्ध होता है। इसमें किसी प्रकार की त्रुटि ज्ञात नहीं होती है, न तो इसमें त्रुटि है ही।

तथापि केवल व्यतिरेकी हेतु के प्रसंग में पाश्चात्य तर्कशास्त्री, प्राचीन मीमांसक तथा वेदान्ती ने शङ्का की है कि पृथिवी अन्य वस्तु से भिन्न है क्योंकि इसमें गन्ध है। यह केवलव्यतिरेकी हेतु का उदाहरण है। इस स्थल में जहाँ गन्ध है वहाँ पृथिवी से भिन्न वस्तु का अभाव है – ऐसी व्याप्ति अनुमान का प्रधान कारण उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि इस व्याप्ति के हेतु का पृथिवी से भिन्न दृष्टान्त उपलब्ध नहीं है। अपितु यहाँ व्याप्ति होती है जहाँ जहाँ गन्ध नहीं है वह वस्तु पृथिवी से भिन्न नहीं है – जिसमें गन्ध नहीं देखा जाता है वह पृथिवी से भिन्न है जैसे जल।

यहाँ दोष यह है कि व्याप्ति गन्धाभाव का कहा जाता है और अनुमान गन्ध हेतु से पृथिवी से भिन्न वस्तु का नहीं होने का किया जाता है। यह संगत नहीं प्रतीत होता है। डा० सर झा ने कहा है कि इसके समाधान में नैयायिक ने जो युक्ति दिखाई है उसमें मन नहीं मानता है। ऐसी स्थिति में मीमांसक और वेदान्ती अतिरिक्त प्रमाण अर्थापत्ति मानते हैं। जहाँ जो विषय देखा जाता है, वह विषय यदि अन्य एक विषय के बिना सिद्ध नहीं होता है, तो पहले के विषय से जो दूसरे विषय के अस्तित्व का ज्ञान होता है उसे अर्थापत्ति प्रमाण कहते हैं। देवदत्त मोटा है किन्तु दिन में वह खाता नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वह रात में अधिक खाता है। क्योंकि शरीर का मोटा होना भोजन के बिना संभव नहीं है और दिन का भोजन उसका बाधित है। अतः रात के अधिक भोजन से उसका मोटा होना सिद्ध होता है।

केवल व्यतिरेकी हेतु से जो अनुमान होता है, वह शुद्ध अर्थापत्ति प्रमाण है। यहाँ गन्ध है – यह ज्ञात होने पर यह भी ज्ञात होता है कि पृथिवी से भिन्न पदार्थ में गन्ध नहीं रहता है। अतः अर्थ से सिद्ध होता है कि गन्ध के रहने से पृथिवी से भिन्न पदार्थ यह वस्तु नहीं हो सकता है।

डा० सर झा ने यहाँ स्पष्ट कहा है कि प्रतीत होता है कि नैयायिक को चार प्रमाण मानने का आग्रह रहने से नैयायिक अर्थापत्ति प्रमाण नहीं मानकर

केवल व्यतिरेकी अनुमान मानते हैं।

४) हेत्वाभास का स्वरूप एवं उदाहरण न्यायशास्त्र के अनुसार विशद एवं विस्तृत रूप से दिखाने के बाद डा० सर झा ने एक समस्या उठायी है कि हेतु के पाँच दोषों का विचार तो यहाँ हुआ है किन्तु अनुमान के अन्य अवयवों के तथा पक्ष आदि के दोषों का निरूपण महर्षि गौतम ने किया है या नहीं? यदि किया है तो कहाँ? यदि नहीं किया है तो क्यों? क्या इन्हीं पाँच दोषों में उनका अन्तर्भाव है? बौद्ध दार्शनिक धर्मोत्तराचार्य ने अपने न्यायबिन्दु की व्याख्या में हेत्वाभास के साथ दृष्टान्ताभास का भी निरूपण किया है। तब क्या कारण है कि महर्षि गौतम के सूत्र में तथा भाष्य वार्तिक आदि में इन सबका विचार नहीं किया गया है।

इसके समाधान में नैयायिकों का कहना है कि अनुमान के सभी दोषों का अन्तर्भाव महर्षि गौतम ने हेत्वाभास में ही नहीं किया है। इसके अतिरिक्त अनुमान और तर्क आदि के दोष भी हैं। छल, जाति तथा निग्रहस्थान भी दोषरूप में ही मान्य है। उन सब के निरूपण के अवसर पर यह विषय स्पष्ट रूप से परिज्ञात होगा। यथा आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक तथा अनवस्था आदि तर्क के दोष माने गये हैं।

यद्यपि अनुमान तथा तर्क के अनेक दोष गिनाए गये हैं तथापि हेतु, पक्ष, साध्य तथा दृष्टान्त आदि के दोषों का इस हेत्वाभास में अन्तर्भाव हो जाता है। अनुमान के तीन वाक्य प्रधान होते है (१) पक्षता, जहाँ साध्य का अस्तित्व है या नहीं, प्रमाणित करना है। (२) पक्षधर्मता का अर्थ होता है कि हेतु पक्ष में है – इसका निरूपण और (३) व्याप्ति, जहाँ जहाँ हेतु रहता है वहाँ वहाँ साध्य अवश्य रहता है – इसका निरूपण। यहाँ पक्षधर्मता में प्रमाद होने पर वह हेतु को ही दुष्ट करेगा। अतः पक्षधर्मता का दोष हेतु का ही दोष माना जाएगा। पक्ष में दो प्रकारों का प्रमाद संभव है। या तो वस्तु (साध्य) नहीं रहेगा या वस्तु (साध्य) रहेगा भी तो वहाँ हेतु का रहना असंभव होगा।

प्रथम कल्प में वस्तु के (साध्य के) नहीं रहने पर हेतु के आश्रय के नहीं रहने पर आश्रयासिद्ध नामक दोष होगा, जो हेतु का ही एक प्रकार का दोष है। दूसरे कल्प में अर्थात् यदि पक्ष में हेतु नहीं रहेगा तो स्वरूपासिद्ध

नामक दोष हेतु का ही दोष होगा। यदि व्याप्ति में दोष होगा तो वह दोष सव्यभिचार नामक हेत्वाभास अर्थात् हेतु का ही दोष हुआ।

छल, जाति तथा निग्रहस्थान का जो विचार हुआ है, वह भी किसी न किसी प्रकार से हेतु दोष में ही अन्तर्भूत हो जाता है। अत एव वरदराजाचार्य ने तार्किकरक्षा में कहा है कि तत्त्वदर्शी मुनि ने पक्षाभास आदि का विचार नहीं किया है इस शास्त्र में केवल हेत्वाभास का ही विचार किया है –

अत एव च शास्त्रेऽस्मिन् मुनिना तत्त्वदर्शिना।
पक्षाभासादयो नोक्ता हेत्वाभासस्तु दर्शितः।।

इस प्रकार अनुमान के सभी दोषों का हेत्वाभास में (हेतुदोष में) अन्तर्भाव मानने पर एक बड़ा उपकार यह होगा कि हेतुदोषों को समझना आसान हो जाएगा। केवल हेतु दोषों को अच्छी तरह देख लेने से अनुमान के सभी दोष दृष्टि पर आ जाएंगे।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में अनुमान के विचार करते समय प्रत्येक टर्म पर विचार करना आवश्यक होता है। कौन सा टर्म कौन से प्रेमिस में डिस्ट्रीब्यूटेड है, इसके साथ प्रत्येक प्रेमिस पर विचार करना पड़ता है। पुनश्च प्रेमिस के प्रसंग में कन्क्ल्यूजन का सम्बन्ध उन अनेक विषयों पर अनेक प्रकारों के विचार करने पर स्पष्टतः ज्ञात होता है कि अनुमान शुद्ध है या अशुद्ध।

भारतीय न्याय में ऐसा नहीं है केवल हेतु के विचार करने पर पाँच में से किसी एक हेत्वाभास के लक्षण के घटने या नहीं घटने पर निश्चय रूप से ज्ञात होता है कि अनुमान अशुद्ध या शुद्ध है।

पाश्चात्य तर्कशास्त्र में और भारतीय न्यायशास्त्र में एक मुख्य अन्तर यह है कि पाश्चात्य तर्कशास्त्र में यह ऐसा है और यह ऐसा नहीं है – इन दोनों को परस्पर विरुद्ध रूप में देखा जाता है। यह ऐसा है – यह अन्वयी वाक्य है। यह ऐसा नहीं है – यह व्यतिरेकी वाक्य है। दोनों को भिन्न भिन्न मानने पर अनेक प्रकारों का मूड मानना पड़ेगा। जिससे चार प्रकारों के फिगर को सम्पूर्ण मूड के क्रम से अनुमान के दोषों का विचार बहुत कठिन हो जाएगा। किसी प्रकार के अनुमान के दोष का निश्चय शीघ्र नहीं हो पायेगा। विशेषकर जब पहले फिगर के रूप में अनुमान को लाना होगा तब औववर्सन करना

होगा, जिससे वाक्य का अर्थ विगर जाएगा।

भारतीय दर्शन में अभाव पद के प्रयोग से सभी बात अन्वयी रूप में (यह ऐसा है, इस रूप में है) कर लेने से प्रत्येक वाक्य अन्वयी हो जाएगा। वाक्य लिखने या कहने का क्रम ऐसा होगा कि कोई भी अनुमान स्वरूपतः कितना भी भिन्न हो किन्तु लिखने का या कहने का क्रम एक ही होगा। इससे हेतु दोष का ज्ञान सुगम हो जाएगा। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में हेत्वाभास के तीन प्रकार माने गये हैं। (१) अनडिस्ट्रिब्युटेड मिडल' जहाँ किसी वाक्य में अपने सम्पूर्ण रूप से हेतु उक्त नहीं हो। (२) 'इलिसिट प्रोसेस औफ दि मेजर टर्म' जहाँ परामर्श वाक्य में साध्य का कुछ ही अंश उक्त हो। तथा (३) 'इलिसिट प्रोसेस औफ दि माइनर टर्म' जहाँ परामर्श वाक्य में पक्ष अंशतः कहा गया हो तथा प्रतिज्ञा वाक्य में पक्ष पूर्ण रूप से उक्त हो।

यथा काच सोना नहीं है, क्योंकि काच चमकता है, जो चमकता है वह सोना नहीं होता जैसे हीरा – यह पहला हेत्वाभास का उदाहरण है। यहाँ किसी वाक्य में चमकने वाली सभी वस्तुएँ उक्त नहीं है। भारतीय न्यायशास्त्र में इसको हेत्वाभास का प्रभेद (साधारण) सव्यभिचार माना गया है।

दूसरा हेत्वाभास का उदाहरण है कि जिसको सब स्वीकार करे वह सत्य है। चूँकि ईश्वर को सब नहीं स्वीकार करते, अतः ईश्वर सत्य पदार्थ नहीं है। यहाँ सिद्धान्त रूप में सम्पूर्ण सत्य उक्त है किन्तु प्रथम वाक्य में केवल अंश रूप में सत्य कहा गया है अर्थात् ईश्वर सत्य नहीं है। इसमें क्या सभी सत्य वस्तु अन्तर्भूत है।

तात्पर्य यह है कि एक भी सत्य वस्तु ऐसा नहीं है जो ईश्वर हो किन्तु जिसको सभी व्यक्ति सत्य कहते हैं ऐसा सभी सत्य वस्तु अन्तर्भूत नहीं है। क्योंकि बहुत सत्य वस्तु ऐसी है जिसको सब जानते भी नहीं है। भारतीय न्यायशास्त्र में इसको व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं।

तीसरा हेत्वाभास का उदाहरण यह है कि सभी पुस्तकों में अशुद्धि होती है, क्योंकि सभी पुस्तक मानव निर्मित है। जितनी वस्तुएँ मानव निर्मित होती सब अशुद्ध होती हैं। यहाँ सिद्धान्त में सभी वस्तुएँ अन्तर्भूत हैं किन्तु पहले वाक्य में मानव निर्मित सभी वस्तुएँ अन्तर्भूत नहीं हैं। भारतीय न्याय

शास्त्र में इसको असिद्ध हेत्वाभास कहते हैं। इस प्रकार पाश्चात्य तर्कशास्त्र में जितनी फैलेसी उक्त हैं उनका इन्हीं तीनों में अन्तर्भाव होता है।

मेरी दृष्टि में सम्पूर्ण विश्व में प्राचीन एवं नवीन न्यायशास्त्र का चिन्तन बहुत हुआ है। किन्तु आज अपेक्षा है नया चिन्तन का, जो भारतीय न्यायशास्त्रीय पदार्थों का पाश्चात्य तर्कशास्त्र के साथ तुलनात्मक चिन्तन होने से संभव है। इस प्रकार के चिन्तन का यद्यपि प्रचार प्रसार नहीं हुआ है तथापि यह चिन्तन भारतीय न्याय के विद्यार्थियों को नई दृष्टि दे सकता है। नवीन चिन्तन की धारा में अवगाहन का अवसर प्राप्त होगा। हमारे पूर्वज डा० सर झा की दृष्टि इस ओर लगभग सौ वर्ष पहले ही गयी थी। अतः न्यायप्रकाश में इसका दिग्दर्शन इन्होंने किया है। न्याय दर्शन के नवीन चिन्तकों का ध्यान यह न्यायप्रकाश अवश्य आकृष्ट करेगा – ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है।

१९२९ ई० में इलाहाबाद के हिन्दुस्तानी एकेडेमी में साहित्य विषयक व्याख्यानमाला के अन्तर्गत डा० सर के द्वारा दिये गये तीन व्याख्यानों का प्रकाशन 'कविरहस्य' नाम से उसी संस्था से प्रायः उसी वर्ष पुस्तक रूप में हुआ।

मुझे इस विनिबन्ध के प्रेस भेजने के बाद सुहृद्वर आचार्य श्री शशिनाथ झा ने (आचार्य, कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय ने) चर्चा करने पर कविरहस्य की फोटो प्रति उपयोग हेतु देने का अनुग्रह किया। एतदर्थ मैं उनका अधमर्ण हूँ।

यह कविरहस्य दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में राजशेखर की काव्यमीमांसा के विषय आलोचित हुए हैं। वाङ्मय का परिचय, काव्यपुरुष तथा साहित्यवधू की उत्पत्ति एवं उन दोनों का विवाह कराकर कविमानस में उन दोनों के निवास की व्यवस्था भगवती-सरस्वती के द्वारा हुई है। डा० सर झा की दृष्टि में यह कथा रोचक एवं शिक्षाप्रद है।

यहाँ शिष्यों के प्रकार कथन के अवसर पर डा० सर झा ने विशदरूप से उस कथा को कहा है कि मिथिला के उच्चैठ ग्राम मध्य विराजमान भगवती के अनुग्रह से मन्दबुद्धि कालिदास कैसे विद्वान् तथा विख्यात कवि हो गये। काव्य की उत्पत्ति कथा, कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा के परिचय

के साथ भावयित्री प्रतिभा का महत्त्व प्रतिपादन, कवि का लक्षण, शब्द, वाक्य तथा काव्य के स्वरूप का परिचय, काव्यार्थ का मूल तथा साहित्य की अनन्त विषयता आदि स्पष्ट रूप से विस्तारपूर्वक यहाँ वर्णित हैं।

दूसरे भाग में क्षेमेन्द्र कृत कविकण्ठाभरण के आधार पर कवि के दैनिक कृत्यों का, कवि एवं विद्वान् के प्रति राजा के कर्तव्यों का, समाज द्वारा कवियों एवं पण्डितों की परीक्षा के आयोजन का, काव्य में चौर्य के वर्णन का, कवि समय प्रसिद्धि के परिचय का तथा कवि के लिए देश तथा काल के विभाग का परिचय आदि का निर्देश हुआ है। कवि कर्पटिक के काव्यों को पढ़कर कवि बनने का उपाय करने का विधान, कवि के लिए अनेकशास्त्रों की तथा विविध देशों के व्यवहारों की अभिज्ञता आदि की आवश्यकता वर्णित है।

काव्य में औचित्य विचार की चर्चा के (आचार्य क्षेमेन्द्र कृत औचित्य विचार के) उपयोग का निर्देश हुआ है। उपर्युक्त इन विषयों का विस्तृत एवं विशद विवरण डा० सर झा के इस व्याख्यान में उपलब्ध है, जो जिज्ञासु पाठक तथा विद्यार्थियों के लिए निश्चय ज्ञानवर्धक हुआ है। इन व्याख्यानों की प्रासङ्गिकता आज भी वैसी ही है जैसी इसके लेखन के समय रही होगी।

इस कवि रहस्य की भूमिका में डा० सर झा ने स्वयं कहा है कि परीक्षा के पाठ्य में इन ग्रन्थों के नहीं रहने से इन ग्रन्थों के विषय कुछ नवीन अवश्य प्रतीत होंगे।

यहाँ कवि रहस्य के कुछ विषयों का परिचय प्रस्तुत करना अनुचित नहीं होगा। डा० सर झा के विषय-प्रतिपादन के वानगी रूप में देने पर डा० झा के वैदुष्य से पाठक परिचित होंगे। दर्शन का पाण्डित्य रहने पर भी साहित्य विषय की भावकता डा० सर झा में स्पष्ट प्रतिभासित होती है।

डा० सर झा कवि रहस्य में कवि की शिक्षा प्रणाली पर विशेष रूप से प्रकाश दिया है। डा० सर झा ने यहाँ उपोद्घात में कहा है कि राजशेखर की काव्य मीमांसा एक विश्वकोश है। इसका कुछ ही अंश उपलब्ध है तथा क्षेमेन्द्र का कविकण्ठाभरण हजार वर्ष पूर्व की रचना है – इन्हीं दोनों ग्रन्थों के आधार पर इन्होंने अपना व्याख्यान प्रस्तुत किया है।

डा० सर झा ने कहा है– प्रसिद्धि है कि कवि जन्म से ही होता है वह बनाया नहीं जाता है। The poet is born not made अतः कवि की शिक्षा क्या होगी। यह बात सत्य है कि कविता अर्थात् कविकर्म का मूल प्रतिभा पूर्वजन्म के संस्कार से होता है तथापि बिना कठिन शिक्षा के केवल प्रतिभा के बल पर कोई भी कवि नहीं बन सकता है। कवित्व सम्पन्न होने के लिए शिक्षा नितान्त आवश्यक है। यहाँ आगे यह बात और स्पष्ट होगी कि कवि के लिए थोड़ा बहुत विविध शास्त्रों का ज्ञान तथा लोकाचार (व्यवहार) का ज्ञान आवश्यक होता है। सभी विद्याओं का ज्ञान तथा समग्र लोक व्यवहार रहने पर ही प्रतिभा के उपयोग से किसी वस्तु के वर्णन में कवि की सफलता मिलती है, काव्य में उत्कृष्टता आती है।

कवि रहस्य के उपक्रम में पहले वाङ्मय का परिचय दिया गया है। यह दो प्रकार का होता है शास्त्र और काव्य। पुनश्च शास्त्र दो प्रकार के माने गये हैं – अपौरुषेय तथा पौरुषेय। अपौरुषेय शास्त्र है वेद। इतिहास, धनुर्वेद (शास्त्रविद्या) गान्धर्व वेद (संगीत विद्या) और आयुर्वेद (चिकित्सा) उपवेद के रूप में मान्य हैं। इन सब से भिन्न एक 'गेयवेद्' भी माना गया है। इसमें चारों ही वेदों एवं चारों ही उपवेदों का सारांश निहित हैं। इस गेय वेद के रचयिता द्रौहिण नामक ऋषि हैं। इस गेयवेद के अध्ययन अध्यापन का अधिकार सभी वर्णों को है, किसी वर्ण के लिए इसका पठन पाठन वर्जित नहीं है। वेद की तरह यहाँ प्रतिबन्ध नहीं है कि केवल द्विज को ही इसके पढ़ने का अधिकार है। उपर्युक्त इतिहास (उपवेद) दो प्रकार का होता है (१) परिक्रिया तथा (२) पुराकल्प। जिस इतिहास में एकनायक का वर्णन हो वह है परिक्रिया और जिस इतिहास में अनेक नायकों का वर्णन हो वह है पुराकल्प। ज्ञातव्य है कि मीमांसा का परिभाषिक परक्रिया वा परकृति से यह परिक्रिया भिन्न है।

परिक्रिया पुराकल्प इतिहासगतिर्द्विधा।
स्यादेकनायका पूर्वा द्वितीया बहुनायका।।

वेद के छह प्रसिद्ध अंगों के साथ (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्दस्, निरुक्त तथा ज्योतिष के साथ) यहाँ अलङ्कार को भी उसका सातवाँ अंग माना

गया है। इन अंगों के विदित रहने से वेद का अभिप्राय सुविधा पूर्वक ज्ञात होता है।

पौरुषेय शास्त्र मूलतः चार हैं – पुराण, न्याय, अर्थात् आन्वीक्षिकी, मीमांसा तथा धर्मशास्त्र अर्थात् आचार शास्त्र। स्मृतितन्त्र धर्मशास्त्र का ही पर्याय है। राजशेखर की दृष्टि में तीनों ही लोकों के विषय इन चौदह पन्द्रह विद्यास्थानों के अन्तर्गत आ जाते हैं। कुछ लोगों के मत में वार्ताशास्त्र (कृषि तथा वाणिज्य) शिल्पशास्त्र, कामसूत्र तथा दण्डनीति (राजशास्त्र) भी विद्यास्थान के रूप में मान्य हैं। अतः विद्यास्थान के अट्ठारह प्रभेद मान्य हैं।

वाङ्मय का दूसरा प्रकार है काव्य, जो उपर्युक्त सभी विद्यास्थानों का (सभी शास्त्रों का) एकमात्र आधार है। क्योंकि कविनिर्मित काव्य गद्य पद्यमय होता है केवल हित का उपदेश करता है तथा सभी शास्त्रों का अनुसरण करता है।

कुछ विद्वान् आन्वीक्षिकी, त्रयी (वेद – ऋक्, यजुः तथा साम) वार्ता और दण्डनीति को विद्या कहते हुए साहित्य को पाँचवीं विद्या के रूप में मानते हैं। क्योंकि साहित्य उपर्युक्त चारों ही विद्याओं का निस्यन्द (निचोर) है। इन्हीं विद्याओं के अधीन सभी लोक व्यवहार का दर्शन होता है। शास्त्र नदी के प्रवाह की तरह आदि में तुच्छ (छोटा) तथा क्रमशः विपुल अर्थात् विशाल होते हैं।

सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।

शास्त्रों का आरंभ सूत्र रूप में होता है पश्चात् उसकी वृत्ति, भाष्य तथा टीका आदि से वह विशाल एवं गम्भीर होता है। जहाँ विषयों की सूचना (सूत्रण) हो उसे सूत्र कहते हैं। स्वल्प शब्दों में स्पष्ट रूप से व्यापक तथा गम्भीर अर्थ का बोधक होता है सूत्र। प्रत्येक शास्त्र का आरंभ सूत्र से ही होता है। सूत्र की तरह छोटे छोटे पद्यों में शास्त्रीय सिद्धान्तों के कथन को कारिका कहते हैं। सांख्यकारिका में सांख्यशास्त्र के सिद्धान्तों का कथन हुआ है। व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा आदि शास्त्रों का आरंभ सूत्र से ही हुआ है। सूत्रों को कण्ठस्थ करने में सुविधा होती है, जो शास्त्रीय परिज्ञान का सहायक (उद्बोधक) होता है।

सूत्रों के सारकथा को उद्घाटित करना है वृत्ति। **सकलशास्त्रसार-विवरणं वृत्तिः।** सूत्र एवं वृत्ति का विवेचन (परीक्षण) करने को कहते हैं पद्धति। सूत्र एवं वृत्ति पर किये गये आक्षेपों का समाधान तथा युक्ति, प्रमाण तथा उदाहरण आदि के द्वारा अभिमत सिद्धान्त का स्थापन है भाष्य। भाष्य के मध्य में प्रकृत (व्याख्येय) विषय को छोड़कर अन्य विषयों का विचार करना है समीक्षा।

यद्यपि हम लोग व्यापक अर्थ में समीक्षा पद का व्यवहार करते हैं समन्तात् ईक्षा (ईक्षणम्) समीक्षा- इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रकृत विषय का सभी प्रकार से अवलोकन करना समीक्षा पद का व्युत्पत्ति मूलक अर्थ होता है।

अभिमत अभिप्राय से न्यून एवं अतिरिक्त कथन का अभाव, अनपेक्षित विषय का अकथन तथा गुण एवं दोष का प्रदर्शन समीक्षा से ज्ञात होता है। इस प्रकार का चिन्तन ही समीक्षा है तथापि काव्यमीमांसा का यह समीक्षापद पारिभाषिक है।

उपर्युक्त वृत्ति आदि व्याख्यानों में जितने अर्थ सूचित हुए हैं, उन सबका यथासंभव कथन है **टीका**। मूल पाठ में जो कहीं कहीं कठिन (दुरूह) पद रहता है उसका विवरण (स्पष्ट कथन) है **पञ्जिका। विषमपदभञ्जिका पञ्जिका** इसका लक्षण यहाँ उक्त है।

यहाँ डा० सर झा के कविरहस्य में स्पष्टतः उल्लेख है कि शाबर भाष्य की प्रभाकर मिश्रकृत ऋजुविमला नामक विस्तृत व्याख्या की पुष्पिका (कोलोफोन) में भाष्य टीका नहीं लिखकर पञ्जिका लिखा गया है। इस पञ्जिका के हस्तलेख का अर्थात् ऋजु विमला का उपयोग अपने शोध प्रबन्ध में डा० सर झा ने पर्याप्त किया है। अतः यहाँ काव्यमीमांसा के पञ्जिकालक्षण की अतिव्याप्ति स्पष्ट प्रतीत हो रही है।

उदयनाचार्य के पूर्ववर्ती नैयायिक अनिरुद्धाचार्य ने न्यायतात्पर्यटीका की न्यायविवरणपञ्जिका नाम से व्याख्या की है, जहाँ काव्यमीमांसा में उक्त पञ्जिका का लक्षण समन्वित होता है।

मूल ग्रन्थ पर जहाँ उक्त, अनुक्त तथा दुरुक्त (अर्थात् उचित रीति से

व्यवस्थित रूप में अनुक्त) विषयों का विचार होता है, उसको वार्त्तिक कहते हैं। **उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।**

इन सब व्याख्याओं से सूत्रात्मक शास्त्र का विस्तार होता है – गम्भीरता आती है। अतः **सरितामिव प्रवाहाः प्रथमं तुच्छाः यथोत्तरं विपुलाः** राजशेखर का वचन उपपन्न होता है।

शास्त्र के किसी एक अंश को लेकर जो ग्रन्थ लिखा जाता है, वह प्रकरण नाम से प्रसिद्ध है। यथा उदयनाचार्य कृत आत्मतत्त्वविवेक एवं न्यायकुसुमाञ्जलि न्यायशास्त्र का प्रकरण ग्रन्थ है। एक में आत्मा तथा दूसरे में ईश्वर का विशद, विस्तृत एवं गंभीर विवेचन हुआ है। अध्याय, परिच्छेद, अनुच्छेद, निःश्वास तथा स्तवक आदि ग्रन्थ के अवान्तर विभाग के रूप में प्रसिद्ध है। पूर्वमीमांसा में शालिकनाथ मिश्र की प्रकरणपञ्चिका सबसे प्राचीन प्रकरण ग्रन्थ है।

साहित्य पद का यथार्थ अर्थ काव्यमीमांसा से ही ज्ञात होता है। साहित्य से शब्द और अर्थ का यथावत् सहभाव अभिप्रेत है। सहितयोः (शब्दार्थयोः) सहभावः साहित्यम् इस व्युत्पत्ति के आधार पर साहित्य पद अपना व्युत्पत्तिजन्य अर्थ को समेटा हुआ है। अत एव साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक होता है। सार्थक शब्द से जो कुछ लिखा जाता है उन सबका अन्तर्भाव साहित्य में होता है। इस दृष्टि से किसी भी ग्रन्थ का विषय या व्याख्यान साहित्य कहलाता है।

इस साहित्य के प्रसंग में एक रोचक एवं शिक्षाप्रद कथा काव्यमीमांसा में कही गयी है। पुत्र की कामना से भगवती सरस्वती ने हिमालय पर तपस्या की। उनको ब्रह्मा ने वर दिया कि तुम्हारा एक पुत्र होगा उस पुत्र का नाम काव्य पुरुष रक्खा गया है अर्थात् पुरुष रूप में काव्य। उसने जन्म लेते ही श्लोक पढ़ते हुए माँ सरस्वती को प्रणाम किया।

यदेतत् वाङ्मयं विश्वमथ मूर्त्या विवर्तते
सोऽस्मि काव्यपुमानम्ब पादौ वन्देय तावकौ

यह जो वाङ्मय स्वरूप विश्व (शब्द स्वरूप संसार) मूर्ति धारण कर विवर्तमान है, वह मैं ही काव्यपुरुष हूँ। मैं आपके चरण की वन्दना (प्रणाम)

करता हूँ। इस पद्य को सुनकर भगवती सरस्वती प्रसन्न हो गयी। पुत्र से कहा – वत्स आजतक विद्वान् गद्य ही में बात करते थे तुमने पद्य का उच्चारण किया है अतः तुम प्रशंसनीय हो। आज से शब्द और अर्थ तुम्हारा शरीर होगा, संस्कृत भाषा मुख, प्राकृत भाषा बाँह, अपभ्रंश जंघा, पैशाचभाषा पैर, मिश्र भाषा वक्षःस्थल, रस आत्मा, छन्दस् लोम, प्रश्नोत्तर एवं कूट पद्य तुम्हारा खेल तथा उपमा एवं अनुप्रास आदि तुम्हारा अलङ्कार होगा। इतना कहकर सरस्वती जी चली गयी। उसी समय में शुक्राचार्य कुश तथा समिधा आदि यज्ञसामग्री लेकर अपने आश्रम की ओर आ रहे थे, इस शिशु काव्यपुरुष को उन्होंने अपने आश्रम में ले गये। यहाँ काव्य पुरुष ने कहा –

या दुग्धापि न दुग्धेव कविदोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि नः सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनुः सरस्वती।।

सुभाषित रूप धेनु कविवर्ग द्वारा दुहे जाने पर भी बिना दुही हुई धेनु की तरह प्रतीत होती है। ऐसी सरस्वती मेरे हृदय में वास करें।

इस पद्य को पढ़कर जो पढ़ना आरंभ करता है, वह व्यक्ति सुमेधा तथा बुद्धिमान् होता है। कवृ वर्णने धातु से निष्पन्न कवि पद का अर्थ होता है वर्णन करने वाला और कवि का कर्म है काव्य। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर सरस्वती के पुत्र का नाम काव्यपुरुष रखा गया। कुछ काल के वाद सरस्वती के लौटने पर अपने पुत्र काव्यपुरुष को नहीं देखकर भगवती सरस्वती दुःख और चिन्ता में पड़ गयी। उस समय में दूसरी तरफ से आते हुए ऋषि वाल्मीकि ने भगवती से कहा कि आपका पुत्र शुक्राचार्य के आश्रम में है। इससे प्रसन्न होकर सरस्वती ने वाल्मीकि को छन्दोमयी वाणी निर्माण करने का वर दिया। उस समय में दो पक्षियों में से एक के व्याध द्वारा मारे जाने पर वाल्मीकि के मुख से प्रसिद्ध पद्य **मा निषाद प्रतिष्ठां त्वम्** आदि निःसृत हुआ। चूँकि इस पद्य को सरस्वती का वरदान प्राप्त है। अतः इस श्लोक को पढ़ने वाला कवि होता है।

मिथिला में इस पद्य के साथ एक और पद्य बच्चों को आरम्भ में अभ्यास कराया जाता है।

सा ते भवतु सुप्रीता देवी शिखरवासिनी।
उग्रेण तपसा लब्धो यया पशुपतिः पतिः।।

एक दिन ब्रह्मा की सभा में दो महर्षियों के मध्य वेद विषयक शास्त्रार्थ की मध्यस्थता हेतु सरस्वती जी बुलायी गयी। काव्यपुरुष भी माँ के साथ जाने का जिद्द कर बैठा। सरस्वती जी ने इसे मना कर दिया। उससे कहा कि बिना बुलाये सभा में नहीं जाना चाहिये। वह काव्यपुरुष दुःखी होकर रूठ गया और कहीँ भाग गया। उसको भागते हुए देखकर उसके मित्र कार्तिकेय जी बहुत दुःखी हुए और रोने लगे। तब सरस्वती जी को एक उपाय सूझा कि प्रेम का बन्धन सबसे अधिक दृढ़ होता है। अतः उन्होंने साहित्य वधू की सृष्टि की और उसको कहा कि तुम्हारा धर्मपति काव्य पुरुष रूठकर भागा जा रहा है उसका पीछा करो और उसको वापस ले आओ। इसी तरह ऋषिवृन्द से भी भगवती सरस्वती ने कहा कि काव्यपुरुष की स्तुति करो उनका मनाओ।

साहित्य वधू ने जिस देश में जैसी वेषभूषा तथा परिधान का धारण किया उस देश की महिला वर्ग ने उसी वेशभूषा तथा परिधान का धारण किया। साहित्य वधू जिस देश में जैसी भाषा बोलती थी उस भाषा का नाम रीति पड़ा। साहित्य वधू जहाँ जैसी नृत्यादि कला दिखाती थी उसका नाम वृत्ति पड़ा। साहित्य वधू की जैसी जहाँ प्रवृत्ति हुई वह भारती कहलाने लगी। गौड़ी, पाञ्चाली तथा वैदर्भी आदि रीति का, भारती सात्वती तथा कैशिकी आदि वृत्तिका एवं रौद्रभारती, आवन्ती तथा दाक्षिणात्य आदि प्रवृत्ति का उद्भव इसी साहित्यवधू की भाषा, कला तथा प्रवृत्ति से हुई।

विदर्भ देश के रत्नगुल्मक नाम का नगर कामदेव का क्रीड़ास्थल माना गया है, अत एव वहीँ पहुँच कर काव्यपुरुष ने साहित्यवधू के साथ विवाह किया तब हिमालय पर पहुँच कर गौरी और सरस्वती को प्रणाम किया। दोनों ही देवियाँ इन सब की प्रतीक्षा ही कर रही थी. दोनों ही देवियों ने काव्यपुरुष दम्पती को प्रसन्नचित्त होकर आशीर्वाद दिया कि आप दोनों ही कवियों के मानस में निवास करें।

यहीँ कविरहस्य में डा० सर झा ने शिष्यों के तीन प्रकारों का वर्णन किया है – १) बुद्धिमान (२) आहार्य बुद्धि तथा (३) दुर्बुद्धि। जो स्वभाव

से बिना किसी की सहायता से शास्त्र सीख जाते हैं, उनको बुद्धिमान कहते हैं। जिनको अभ्यास से शास्त्र का ज्ञान होता है उन्हें आहार्य बुद्धि कहते हैं। इन दोनों से भिन्न को दुर्बुद्धि कहते हैं। दुर्बुद्धि को ज्ञान नहीं हो सकता है किन्तु दैवी कृपा से ऐसा शिष्य भी पण्डित हो जाता है।

डा० सर झा ने जनश्रुति के आधार पर दुर्बुद्धि शिष्य मिथिला के प्रसिद्ध कालिदास के प्रसंग में कहा है कि वे कैसे प्रख्यात कवि हुए। अपने घर से कुछ दूर में अवस्थित मिथिला के किसी प्रतिष्ठित आवासीय विद्यालय में कालिदास पढ़ने गये थे। विशेष प्रकार की मिट्टी से (गाविस मिट्टी से) अक्षर बनाने के लिए कितनी बार भी उस मिट्टी को भूमि पर घिसे अक्षर नहीं बन पाता था। पाठशाला से दो कोश पर 'उच्चैठ' नामक गाम में भगवती वनदुर्गा या भगवती काली का एक प्राचीन मन्दिर था। बरसात की अन्धेरी रात में मूसलाधार वर्षा हो रही थी। छात्रों में बाजी लगी की इस समय यदि कोई उच्चैठ जाकर भगवती का दर्शन कर आएगा तो उसका स्याही (इंक) और कागज हम लोग मिलकर बना देंगे। उस समय में कागज और स्याही लोग स्वयं बना लेते थे। डा० सर झा ने यहाँ लिखा है कि वे भी कागज और स्याही बनाने की विधि जानते थे, अवसर पर बनाते भी थे। कालिदास मूर्ख तो था ही साहसी भी था। उसने उसी समय उच्चैठ गाँव जाने के लिए उद्यत हो गया। और मन्दिर में अपने आने का प्रमाण छोड़ने के लिए स्याही साथ में ले लिया कि मन्दिर के भीतर दिवाल पर अपनी हाथ में स्याही लगाकर हाथ का छाप दे देगा। मन्दिर पहुँचने पर कालिदास ने सोचा कि वर्षा से दिवाल पर दिया गया छाप कहीं पानी से मिट भी सकता है। अतः भगवती के मुख में ही स्याही लगाया जाए। इसके लिए जैसे वह उद्यत हुआ, भगवती की प्रतिमा पीछे खिसकने लगी, इन्होंने प्रतिमा का पीछा किया। अन्त में भगवती का प्रत्यक्ष हुआ इनको। भगवती ने पूछा आप क्या चाहते हो। भगवती के दर्शन से कालिदास की आँखें खुल गयी, इन्होंने कहा कि मुझे विद्या दीजिए। भगवती ने कहा आज रात में जितनी पुस्तकें तुम उलटाओगे वह सब तुम्हें अभ्यास हो जाएगा। रात भर में कालिदास जितना संभव हुआ अपना, विद्यार्थियों का तथा गुरुओं का पुस्तक उलटाना आरंभ किया और पण्डित ही नहीं प्रख्यात कवि भी हुए।

मेरी दृष्टि में डा० सर झा ने अपने व्याख्यान में इस उदाहरण का उल्लेख कर उच्चैठ गाम की जाग्रत देवता की प्राचीनता, कालिदास का मैथिल होना तथा दैवी कृपा से असंभव कार्य का संभव होना कहकर दृढ़ विश्वास के साथ अपनी आस्तिकता सिद्ध की है।

डा० सर झा ने प्रसिद्धि तथा काव्यमीमांसा के आधार पर कहा है कि प्रतिभा दो प्रकार की होती है (१) कारयित्री तथा (२) भावयित्री। कवि में कारयित्री प्रतिभा रहती है और भावक-सहृदय आलोचक में भावयित्री। काव्य के आलोचन में भावक की भूमिका का महत्त्व समझाने के उद्देश्य से डा० सर झा ने संस्कृत और हिन्दी की कविता को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, जो मुझे रुचिकर लगा। अतः उन उदाहरणों का उल्लेख कर रहा हूँ।

इयं सन्ध्या दूरादहमुपगतो हन्त मलयात्
तवैकान्ते गेहे तरुणि वत नेष्यामि रजनीम् ।
समीरेणोक्त्वैवं नव कुसुमिता चूतलतिका
धुनाना मूर्धानं नहि नहि नहीत्येव कुरुते।।

मलय पर्वत पर से आया हुआ समीर फुलाइ हुई आम्र मञ्जरी से कहता है कि मैं बहुत दूर मलय पर्वत पर से आ रहा हूँ। हे तरुणि! तुम्हारे एकान्त घर में मैं रात बिताना चाहता हूँ। इस पर नव कुसुमिता चूतलतिका ने तीन बार नहीं कहा। अर्थात् आज नहीं, कल नहीं, परसो नहीं तीन दिनों के बाद आओ।

कवि से जब भावक ने पूछा कि तीन बार नहीं पद का व्यवहार आपने क्यों किया है तो कवि ने सहज भाव से उत्तर दिया कि छन्दस् के अनुरोध से अन्यथा छन्दोभंग हो जाता।

किन्तु भावक ने कहा कि ऐसी बात नहीं है। तीन बार नहीं पद के प्रयोग से कवि का आशय है कि सद्यः रजस्वला आम्रमञ्जरी कहती है कि तीन दिन तक तुम यहाँ नहीं रहो चौथे दिन मेरे घर पर आओ, नवकुसुमिता पद तथा एकान्त पद से यह बात ध्वनित होती है।

ऐसा ही बिहारी का एक दोहा है –

मानहु मुख दिखरावनी दुलहिन करि अनुराग।
सासु सदन मन ललनहुँ सौतिन दिओ सोहाग।।

नवविवाहिता दुलहिन के ससुराल आने पर उसकी सुघरता एवं शील-स्वभाव देखकर सास ने घर की प्रभुता, नायक (पति) ने रूप एवं गुण पर अनुरक्त होकर अपना मन दे दिया तथा सौतिन ने अपने से उत्कृष्ट सुन्दरी समझकर उसको पति का प्रेम मानो मुँह दिखाई में दे दिया। यह व्याख्या भावक रत्नाकर द्वारा की गयी है।

इसकी दूसरा व्याख्या इस प्रकार है। इस में अर्थ को कैसे अनर्थ किया गया है सो द्रष्टव्य है।

नायिका अपनी दशा अनागत किसी प्रेमी को सूचित करती है कि मानहु = मेरी प्रार्थना मान लो, अनुराग करि = प्रेम करके, मुह दिखराव = मुझे अपना मुँह दिखाओ, क्योंकि नीदुलहिन = रात में निन्द नहीं हुई। आज आपके आने में बाधा नहीं है, सासु सदन मन = मेरी सास घर में नहीं हैं, ललनहुँ = पति भी नहीं हैं, सौतिन दियो सोहाग = पति मेरे सौतिन के पास हैं। भावक स्वयं समझ सकते हैं कि कौन सी व्याख्या यहाँ संगत है।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण विषय यह भी कहा गया है कि समाजकृत पाण्डित्य परीक्षा की प्रथा मिथिला में दो ढाइ सौ वर्ष पहले तक प्रचलित थी। जब कोई पण्डित देश विदेश से पाण्डित्य के बल पर धन एवं प्रतिष्ठा उपार्जित कर वापस अपने गाँव घर लौटकर आता था तब यदि वह अपने को तद्योग्य समझता था तो देशवासियों से कहता था कि मैं सभी देशों से पाण्डित्य की प्रतिष्ठा प्राप्त करके आया हूँ, अब मुझे अपने देश में प्रतिष्ठा की लालसा है। मिथिला में उस समय पाण्डित्य की सर्वोच्च परीक्षा थी 'सरयन्त्र' यह परीक्षा मेरी भी होनी चाहिए। सरयन्त्र का अभिप्राय डा० सर झा को ज्ञात नहीं था – यह बात उन्होंने स्पष्टतः यहाँ कही है। प्रथा ऐसी थी कि देश भर के विद्वान् कठिन से कठिन प्रश्न पूछते थे, जिसका समुचित उत्तर परीक्ष्य को देना पड़ता था। पश्चात् साधारण जनता भी प्रश्न पूछती थी जिसका उत्तर देना पड़ता था। तब यह प्रतिष्ठा मिलती थी। दो ढाइ सौ वर्ष पहले महामहोपाध्याय गोकुलनाथ उपाध्याय इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे। उ: को किसी ने पूछा था कि विष्ठा का स्वाद कैसा होता है कुछ काल विचार करके

उन्होंने कहा था कि वह कटु होता है। क्योंकि विष्ठा खाते समय शूकर की आँख से आँसू गिरता रहता है। पूछने वाला इस सयुक्तिक उत्तर से सन्तुष्ट हो गया – ऐसी जनश्रुति है।

प्रसिद्ध पण्डित गोकुलनाथ उपाध्याय ने भारतीय विद्या के अनेकों शाखा के ग्रन्थों का प्रणयन एवं व्याख्यान किया साथ ही पारसी प्रकाश नामक पारसी संस्कृत कोश की रचना कर फारसी भाषा की अभिज्ञता का प्रमाण भी प्रस्तुत किया है।

इससे प्रतीत होता है कि दर्शन का पाण्डित्य तथा न्याय एवं मीमांसा की विशेष अभिज्ञता के साथ साहित्य विद्या की भावकता भी डा० सर झा में विद्यमान थी। दूसरी बात मुझे अच्छी लगी कि डा० सर झा ने मुक्तक काव्य के भेद प्रभेदों को कहते समय हिन्दी कविताओं के साथ मैथिली काव्य का भी उदाहरण प्रस्तुत किया। महामहोपाध्याय हर्षनाथ झा तथा महाकवि चन्द्र (चन्दा) झा की कविताएँ उदाहरण रूप में उद्धृत हुई हैं। इससे अपनी भाषा मैथिली के प्रति डा० सर झा का सहज हार्दिक अनुराग अभिव्यक्त होता है। हिन्दी का विशेष कर खड़ी बोली का गढ़ माना जाने वाला शहर इलाहाबाद में हिन्दी के व्याख्यान में मैथिली के पद्यों का उदाहरण रूप में उस समय में प्रस्तुत करना डा० सर झा सदृश व्यक्ति के लिए ही संभव हो सका। मैथिली को हेय दृष्टि से देखने वालों के ऊपर इस ग्रन्थ की भूमिका में कटाक्ष करते हुए डा० सर झा ने मैथिली की अस्मिता की रक्षा तथा मातृभाषा के प्रति सहज अनुराग अभिव्यक्त किया है। भूमिका में डा० सर झा ने कहा है कि 'हिन्दी मेरी मातृभाषा नहीं है। मेरी मातृभाषा वह मैथिली भाषा है, जिसका दश बारह वर्ष पहले तक घृणा की दृष्टि से नाम रक्खा गया था 'छिका छिकी' पर जब से लोगों का कृपा कटाक्ष विद्यापति ठाकुर के काव्यों पर पड़ा है तब से मैथिली भी हिन्दी परिवार के अन्तर्गत समझी जाने लगी है।

पटना विश्वविद्यालय ने इनको १९२९-३० इस्वी में हिन्दी में व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया। इन्होंने 'हिन्दू विधि के मूलाधार' विषय पर व्याख्यान दिया था।

यद्यपि यह व्याख्यान मुद्रित हुआ, इसका सम्पूर्ण प्रूफ डा० सर झा ने देखा था। किन्तु किसी अज्ञात कारणवश यह प्रकाशित हीं हो सका। प्रकाशन

के प्रसंग में पत्र द्वारा जिज्ञासा करने पर डा० सर झा को पटना विश्वविद्यालय ने कोई उत्तर नहीं दिया। इसका हस्तलेख भी मुझे कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

मैथिली में इनकी कृति 'वेदान्त दीपक' मैथिली साहित्य परिषद दरभंगा से १९३६ ई० में प्रकाशित है। यह कृति लघु कलेवर रहने पर भी विचार की विशदता एवं गम्भीरता से परिपूर्ण है। इस कृति का मूल स्वर है ज्ञानकर्म समुच्चयवाद का प्रतिपादन, जो वैदिक काल से ही परम पुरुषार्थ मोक्ष के साधक रूप में मान्य है।

प्राचीन काल में वेदान्त शास्त्र का प्रचार मिथिला में आरम्भ हुआ। बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य जनक संवाद तथा मैत्रेयी-याज्ञवल्क्य संवाद इसका प्रमाण है। महर्षि याज्ञवल्क्य मिथिला के ही थे। उनकी स्मृति में स्पष्ट उक्त है – **'मिथिलास्थः स योगीन्द्रः।'** मिथिला के दो प्रसिद्ध दार्शनिक हुए मण्डन मिश्र और वाचस्पति मिश्र। एक ने ब्रह्मसिद्धि नामक वेदान्त ग्रन्थ का प्रणयन किया तथा इन से तीन सौ वर्ष पश्चात् वाचस्पति मिश्र ने शाङ्कर भाष्य की व्याख्या भामतीनाम से लिखी। इससे वेदान्त शास्त्र की पर्याप्त समृद्धि अभिवृद्धि हुई। पश्चात् मिथिला में उत्कृष्ट वेदान्त शास्त्र का प्रचार प्रसार शास्त्रान्तर की अपेक्षा कम हुआ। डा० सर झा ने इसका कारण कहा है कि मिथिला कर्मप्रधान देश रहा है। कर्मकाण्ड का प्रतिपादक पूर्वमीमांसा तथा न्यायदर्शन का प्रचार प्रसार यहाँ अधिक हुआ। वेदान्त शास्त्र का स्वरूप कर्मकाण्ड का विरोधी होने लगा। अत एव मैथिल चिन्तक वर्ग वेदान्त के समादर से अपनी हानि मानकर इस शास्त्र से विमुख होकर पूर्वमीमांसा तथा न्याय की ओर अग्रसर हुए। इन्हीं दोनों शास्त्रों के परिशीलन में लगे रहे। नवीन वाचस्पति मिश्र के समय में न्याय और मीमांसा का अध्ययन अनुशीलन चरम शिखर पर विद्यमान था। नवीन वाचस्पति ने स्वयं अपने परिचय में कहा है कि मेरा जन्म कर्म मीमांसक के निष्कलुष कुल में हुआ है और गुरु ने करुणा करके न्यायशास्त्र का बोध कराया।

वंशेजातः कलुषरहिते कर्ममीमांसकानां।
आन्वीक्षिक्यां गुरुकरुणया लब्धतत्त्वावबोधः।।

डा० सर झा ने मिथिला में न्याय शास्त्र के प्रचार बाहुल्य का एक यह भी कारण कहा है कि बौद्ध दर्शन के यहाँ प्रचार के आधिक्य से समाज जब

नास्तिक होने लगा तब मैथिल चिन्तक वर्ग को ईश्वर के अस्तित्व की स्थापना करना अनिवार्य जैसा प्रतीत होने लगा। वृद्धवाचस्पति मिश्र के अनुयायी उदयनाचार्य ने इस दिशा में आगे आए और मिथिला में नास्तिकता को छिन्नमूल कर दिया। वेदान्त दर्शन में ईश्वर का अस्तित्व कुछ मन्दरूप में प्रतिपादित है। अत: वेदान्त के आधार पर यह कार्य इतना शीघ्र और अच्छी तरह संभव नहीं था। परिणामत: उदयनाचार्य के समय से मिथिला में न्यायशास्त्र का विशेष प्रचार होने लगा। यही कारण रहा होगा कि मण्डन मिश्र तथा भामतीकार वाचस्पति मिश्र के पश्चात् एक भी उल्लेखनीय मैथिल वेदान्ती नहीं हुए।

अभिनव वेदान्ती वृन्द ने वेदान्त को कर्मकाण्ड का विरोधी कहकर इस शास्त्र की बहुत ही हानि की। वेदान्त कभी भी कर्मकाण्ड का विरोधी नहीं रहा। प्रत्युत वेदान्त के अनुसार कर्मकाण्ड का अनुशीलन परिशीलन तथा अनुसरण अवश्य कर्तव्य है। वेदान्त के अध्ययन अनुशीलन से कर्मकाण्ड में किसी प्रकार की बाधा नहीं होती है।

वेद का अन्तिम भाग उपनिषद वेदान्त है किन्तु शङ्कराचार्य के समय से उनके द्वारा प्रवर्तित दर्शन वेदान्त नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस दर्शन के प्रसंग में सर्वत्र भ्रम फैलता रहा कि यह दर्शन कर्मकाण्ड का विरोधी है। इस भ्रम का निवारण शाङ्कर वेदान्त से करना ही उचित होगा। डा० सर झा ने यहाँ कहा है कि इस दर्शन के उपर्युक्त भ्रम का प्रसार आचार्य शङ्कर के ही कर्म का फल है। जैन तथा बौद्ध आदि के मतों का खण्डन करते समय शारीरक भाष्य में आचार्य शङ्कर ने जो पूर्वपक्ष रूप में उक्त मत का अनुवाद प्रस्तुत किया है वह उचित रूप में नहीं करके विकृत अनुवाद किया है तथा उसका निराकरण भी वैसा ही किया है। जिस अन्याय का फल उनको अपने वेदान्त पर पड़ा है। पहले प्रतिपक्षी के द्वारा पश्चात् सपक्षी के द्वारा विकृत रूप से इस वेदान्त का स्वरूप प्रदर्शित होने लगा। इससे वेदान्ती को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाने लगा। वेदान्तियों को विशेषकर शङ्कराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने का मूल कारण यह रहा कि शङ्कराचार्य के अनुगामी विद्वान् वेदान्तीवृन्द ज्ञानकाण्ड पर इतना आग्रह दिखाया तथा वे कर्मकाण्ड के विरोध में इतना लग गये कि सामान्य जनता को विश्वास हो गया कि वेदान्त दर्शन नास्तिक प्राय है।

विश्वभर के सुधीजन उद्‌घोष करने लगे कि वेदान्त दर्शन में धर्म, धर्माचरण तथा पुण्य पाप का कहीँ कोई स्थान नहीं है। इस भ्रमात्मक भाव की पुष्टि वेदान्ती वर्ग के आचार विचार से भी होता गया। इन लोगों ने इतना कह दिया कि केवल ब्रह्म सत्य है और सब मिथ्या है। धर्म तथा अधर्म, पुण्य तथा पाप, सदाचार तथा दुराचार सब मिथ्या है। यह केवल वचन से ही नहीं अपितु आचरण से भी समाज को समझाने लगे। इससे वैदिक दर्शन वेदान्त तिरस्कृत होने लगा।

बौद्ध आचार्य क्षणिक विज्ञानवाद की स्थापना में श्रम शक्ति लगाए और वेदान्तीवृन्द नित्य विज्ञानवाद की स्थापना में। दोनों ही दार्शनिकों की दृष्टि में धर्म, अधर्म, पुण्य, पाप तथा सदाचार दुराचार मिथ्या माना जाने लगा। केवल नित्यज्ञान रूप ब्रह्म तथा क्षणिक विज्ञान क्रमशः दोनों मत में यथार्थ माना गया।

नित्य, नैमित्तिक तथा काम्य कर्म के अनुष्ठान के साथ यदि ज्ञानार्जन होता है तो वह पुरुषार्थ का साधक अवश्य होता है। अग्निहोत्र के अनुष्ठान से स्वर्ग होता है – **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः** ऐसा वेदवचन है। पुत्रेष्टि याग करने पर पुत्र की प्राप्ति होती है – **पुत्रकामः पुत्रेष्टिं यजेत** – यह काम्य कर्म है। मेष संक्रान्ति में यव, सत्तू, जलपूर्ण घट तथा पंखा दान करना, मकर संक्रान्ति में उड़द का दाल, चावल, तिल गुड़ तथा कम्बल आदि दान करना नैमित्तिक कर्म माना गया। सन्ध्या वन्दन, तर्पण आदि के साथ शालग्राम शिला आदि का पूजन नित्यकर्म है।

इन्हीं कर्मों के साथ श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन आदि द्वारा उपनिषद आदि के अनुशीलन से अर्जित ज्ञान तथा कर्म का समुच्चय चरम पुरुषार्थ मोक्ष का साधक होता है। डा० सर झा ने सूत्र रूप में इन्हीं बातों का पल्लवन वेदान्त दीपक में किया है।

सत्कर्म से चित्त की शुद्धि होती है। पूर्व जन्म कृत सत्कर्माचरण से यदि विशिष्टव्यक्ति का चित्त शुद्ध हो जाता है तो इस जन्म में वह सत्कर्म उद्बोधक होकर परमज्ञानी बना देता है। जैसे भगवान् बुद्ध तथा शङ्कर भगवत्पाद आदि हुए।

मैथिली में वेदान्त दर्शन के मुख्य पदार्थों का परिचय संक्षेप में डा० सर झा ने स्पष्टता पूर्वक दिया है। यहाँ शास्त्रीय पदार्थों के परिचयार्थ शास्त्र निर्दिष्ट उपायों का उपयोग किया गया है। यथा उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति का यहाँ इन्होंने प्रभूत उपयोग किया गया है।

एक समय था जब वेदान्ती तथा कर्मकाण्डी वर्ग समय समय पर ज्ञान तथा कर्म की झूला पर बैठाकर अपने अपने पक्ष की ओर आस देकर कभी कर्म को प्रधान मानकर ज्ञान की उपेक्षा करते रहे तो कभी ज्ञान को प्रधान मानकर कर्म की उपेक्षा करते रहे। इससे साधारण जनता दिशाहीन होने लगी। आवश्यकता थी ज्ञान एवं कर्म के सन्तुलन की – ऐसा प्रतिपादन वेदान्त दीपक में हम देखते हैं। यहाँ पहले परिच्छेद में मिथिला में वेदान्त, दूसरे परिच्छेद में वेदान्त के प्रसंग भ्रम का निराकरण और तीसरे परिच्छेद में वेदान्त के सिद्धान्तों का निरूपण शीर्षक से अपना विचार सप्रमाण विशदता के साथ डा० सर झा ने प्रस्तुत किया है।

डा० सर झा की जितनी कृतियाँ मेरी दृष्टि गोचर हुई हैं उनमें चार कृतियाँ हम लोग जैसे उत्तर साधक के लिए प्रेरणाप्रद तथा आदर्श स्वरूप है। व्याख्यात्मक रहने से परिणत वयस में उनके विद्या-परिपाक के साक्ष्य रूप में मान्य है। इसका यह अर्थ कथमपि नहीं मानना चाहिए उनकी अन्य कृतियाँ महत्त्वाधायक नहीं हैं। प्रत्येक कृति का अपना महत्त्व है। सभी कृतियाँ उपर्युपरि है। मेरी वैयक्तिक रुचि के अनुकूल निम्न निर्दिष्ट चार कृतियाँ हैं। ये चारों कृतियाँ इस प्रकार हैं –

१) पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेस २) हिन्दू लौ इन इट्स सोर्सेस ३) मनुस्मृति के मेधातिथि भाष्य का संपादन तथा अंग्रेजी अनुवाद के साथ उसकी तीन प्रकार की टिप्पणी – व्याख्यात्मक, तुलनात्मक तथा पाठभेद सम्बन्धी और ४) मीमांसा सूत्र के आरंभ से तीन अध्यायों का अंग्रेजी में व्याख्या के साथ अनुवाद।

१९३८ ई० में विभिन्न दार्शनिक मतों के प्रस्तावित विश्वकोश में समावेश हेतु प्रो० रानाडे (दर्शन विभाग – इलाहाबाद विश्वविद्यालय के

आचार्य) ने इनसे पूर्ण व्याख्यात्मक ग्रन्थ 'पूर्व मीमांसा इन इट्स सोर्सेस' नाम से ग्रन्थ लिखवाया, जो पश्चात् डा० सर झा के दिवङ्गत होने पर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ, जब डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् वहाँ कुलपति थे। इसमें पूर्वमीमांसा के सभी विवेच्य पदार्थों का उद्‌गम तथा क्रम विकास पूर्वक परिचय विशदता एवं विस्तार के साथ दिया गया है।

मीमांसा सूत्र के तीन अध्यायों का अंग्रेजी में व्याख्यान तथा अनुवाद श्रीश चन्द्र वसु द्वारा प्रकाश्यमान सेक्रेड बुक ऑफ इण्डिया सिरीज के लिए लिखा गया था। जो पाणिनि ऑफिस इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। अब पाणिनि ऑफिस इलाहाबाद में नहीं है।

१९१६ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय ने टैगोर व्याख्यानमाला का आयोजन किया था, जो मनु एवं याज्ञवल्क्य के आधार पर कर्तव्य था। इस क्रम में डा० सर झा ने हिन्दू लौ इन इट्स सोर्सेस विषय पर व्याख्यान दिया, जो इण्डियन प्रेस से १९३० से ३३ ई० के मध्य दो भागों में प्रकाशित है। आज भी इस ग्रन्थ की प्रासङ्गिकता पूर्ववत् विद्यमान है। यहाँ उन दोनों ऋषियों की स्मृतियों के विषय के साथ अन्य धर्मशास्त्रीय निबन्ध तथा धर्मशास्त्रीय विषयों के सार संग्रहात्मक ग्रन्थों का अध्ययन कर उन सबका सार भाग संगृहीत है।

इसका पहला भाग अपने अन्तरङ्गमित्र प० गोविन्द दास (वाराणसी) को तथा दूसरा भाग भक्तिवश अपने माता पिता तथा शिक्षादाता अभिभावक मिथिलेश लक्ष्मीश्वर सिंह को लेखक ने समर्पित किया है। चूँकि १९३२ ई० में इस कृति के प्रकाशन से एक वर्ष पहले ही इनकी सहधर्मिणी का स्वर्गवास हो गया था। अतः समर्पण पद्य में इन्होंने एक पङ्क्ति जोड़ दी है कि इस कृति के प्रकाशन से मेरी पत्नी इन्दुमती देवी स्वर्ग में प्रसन्न होंगी।

पितुः श्रीतीर्थनाथस्य प्रभोर्लक्ष्मीश्वरस्य च।
मातुस्तीर्थलतादेव्याः पादयोरिदमर्पितम्।।
प्रीता चानया कृत्या पत्नी श्रीन्दुमती दिवि।

यहाँ हिन्दूविधि से संबद्ध सभी विषयों का सप्रमाण विवेचन किया गया है। प्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ की पंक्ति

नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते।

अक्षरशः अनुसरण किया गया है। अतः इन्होंने अपनी इस कृति में भी न तो बिना मूल की कल्पित बात कही है और नहीं अनपेक्षित (अनावश्यक) बात कही है।

किसी भी विषय के विवेचन के आधार पर उस विषय का उद्‌गम तथा कालक्रमानुसार विकास का यथासंभव विशदता से विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करना डॉ० सर झा की शैली रही है। अत एव पाठक को इनका अभिप्राय सुलभता से समझ में जाता है। यहाँ उक्त ग्रन्थ का विषयसूची मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ। इससे स्थाली पुलाकन्याय की रीति से ग्रन्थ का कुछ परिचय पाठक कर सकेंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थ में विवादों के प्रसंग में आधिकारिक रूप से हिन्दू विधि के अनुसार निर्णय का दिशा निर्देश यहाँ विस्तार से किया गया है। न्यायालय किस तरह का हो, विवाद का निर्णय न्यायमूर्ति किस आधार पर करें, आदि विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवरण यहाँ दिया गया है। यथा – विधि का आधार, विधि सम्मत कार्य पद्धति, न्यायालय, राजा तथा निर्णायक (न्यायमूर्ति), सहायक, विधि का उद्‌घोषक, अभिकलन करने का इलेक्ट्रोनिक उपकरण, लिखने वाला सहायक, अग्नि, सुवर्ण तथा जल, कार्यपाल, परिषद् एवं व्यवहार का परिचय, कार्य पद्धति के आरम्भिक नियम, मुकदमा (आरोप), उसमें सुनबाइ, कोइ भी मुकदमा बिना सुनबाइ का नहीं होता, संयुक्त रूप से भी मुकदमा (आरोप) की प्रस्तुति, आरोप का प्रतिवाद, साक्ष्य एवं प्रमाण का विस्तृत नियम, साक्ष्य में मर्यादा का पालन, किसी वस्तु के स्वामित्व एवं यथास्थिति में आपेक्षिक बल, विधि सम्मत अधिकारी, लिखित प्रमाण, खोई हुई संपत्ति पर अधिकार का दावा, चोरी की संपत्ति, न्यायालय द्वारा राजकीय धन की रक्षा व्यवस्था, न्यायालय द्वारा दिया गया निर्णय, निर्णय से असन्तुष्ट का पुनः विचारार्थ अनुरोध, साक्ष्य, लिखित सामग्री –जो प्रमाण के रूप में प्रयुक्त होता है, राजकीय परम्परा का अनुसरण, मौखिक साक्ष्य,

व्यक्ति जो गवाह नहीं हो सकता है, ऋण देने लेने का नियम, प्रतिभूति रूप धनराशि, बिना स्वामित्व का विक्रय, संयुक्त सम्बन्ध, उपहार का पुनर्ग्रहण, मालिक (नियोक्ता) और भृत्य (नियुक्त वेतन भोगी) के नियम, पशु का स्वामी और पालक का नियम, नगर पालिका के सदस्य, इससे संबद्ध प्रथा तथा सभा, खरीद विक्री का खण्डन, किसी विषय की मर्यादा (सीमा) साहस और अपराध, प्रहार तथा चोट पहुँचाना, चोरी, पति या पत्नी का भिन्न व्यक्ति से अनैतिक सम्बन्ध, द्यूत (जूआ) तथा किसी को पकड़ने, पकड़वाने के लिए लोभ देना एवं उसका आधार, स्वामित्व का तात्पर्य, संपत्ति, विभाजन का अधिकारी, किसी वस्तु को कुछ करने के लिए व्यक्ति विशेष को अधिकार देना, विभाजन का समय, विभाजन का सद्गुण, विभाजन की प्रक्रिया, बाँटने योग्य धन, किस व्यक्ति को धन के विभाजन का अधिकार नहीं है, पैतृक संपत्ति पर पिता और पुत्र आदि के अधिकार का निर्णय, पिता के जीवनकाल में धन के विभाजन का अधिकार पिता का होता है, पुत्र के प्रकार, पूर्वजों की संपत्ति पर विभिन्न वर्ण के पुत्रों का अधिकार-निर्णय, पुत्रों के मध्य संपत्ति के विभाजन का निर्णय, बहनों का पैतृक धन पर अधिकार, भाइ बहनों के बीच संस्कार सम्बन्धी अधिकार, पत्नी का दावा, पुत्रहीन व्यक्ति के उत्तराधिकार का विचार, पत्नी को भी पुत्रहीन व्यक्ति का उत्तराधिकार, पुत्री को पुत्रहीन व्यक्ति का उत्तराधिकार पुत्री का पुत्र तथा माता पिता को यथाक्रम पुत्रहीन का उत्तराधिकार, पुनश्च भाइ, सपिण्ड, सकुल्य, बान्धव को भी यथाक्रम उत्तराधिकार इन सबके अभाव में राजा का अधिकार राजा का सामान्य नियम, स्त्री धन का स्वभाव, स्त्रीधन का विभाजन विविधविध धर्मशास्त्रीय नियम के प्रसंग विशद एवं विस्तृत विवेचन सप्रमाण किया गया।

धर्म एवं धार्मिक आचार एवं व्यवहार के प्रसंग में डा० सर झा ने विभिन्न मुनियों के विचारों का संकलन यहाँ किया है। पराशर के अनुसार प्रत्येक कल्प में प्रलय के बाद सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश श्रुति, स्मृति तथा सदाचार के निर्णायक हुए हैं।

कल्पे कल्पे क्षयोत्पत्तौ ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
श्रुतिस्मृतिसदाचारनिर्णेतारश्च सर्वदा।। पराशरस्मृति।

मनुस्मृति में धर्माचरण का मूल वेद, स्मृति, विद्वानों का शील, साधुजनों का आचार तथा आत्मा की तुष्टि अर्थात् जिस आचरण से मनस्तुष्टि हो उसको कहा है।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च।।

डॉ० सर झा ने शील से सम्यक् संकल्प रूप इच्छा कहा है किन्तु महाभारत में ३।३८१।३४। शील के लक्षण में कहा है कि मन, वचन तथा कर्म से किसी प्राणी का द्रोह नहीं करना, अनुग्रह करना, तथा ज्ञानार्जन करना शील है –

अद्रोहः सर्वभूतानां कर्मणा मनसा गिरा।
अनुग्रहश्च ज्ञानं च शीलमेतद् विदुर्वुधाः।।

आगे चलकर द्वितीय अध्याय में मनु ने कहा है कि वेद, स्मृति, सदाचार और अपना प्रिय आचरण – ये चार धर्म के साक्षात् लक्षण हैं।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्।।

व्यासस्मृति भी शब्दान्तर से इस मनुवचन का अनुमोदन करती है। यहाँ उक्त है कि अकृत्रिम ग्रन्थराशि रूप वेद, स्मृति, विद्वानों का शील, साधुजन का आचार तथा अपना मनःप्रिय धर्म का मूल है।

धर्ममूलं वेदमाहुः ग्रन्थराशिमकृत्रिमम्।
तद्विदां स्मृतिशीले च सदाचारं मनःप्रियम्।।

इस धर्माचरण में देशाचार का महत्त्व सर्वोपरि है, जिस देश में जो आचार हो उसी का पालन करना चाहिये। डा० सर झा ने उपर्युक्त वचनों के साथ ही उल्लिखित किया है।

देशाचारस्तावदादौ विचिन्त्यो
यस्मिन् देशे या स्थितिः सैव कार्या।

ग्रन्थ के द्वितीय भाग में धन के धर्म्य साधन सात प्रकार कहा गया है पैतृक धन से प्राप्त जो दाय कहलाता है, स्वयं अर्जित किया गया खरीद एवं विजय से उपलब्ध, उद्योग एवं कृषि तथा वाणिज्य से प्राप्त तथा उचित उपहार से प्राप्त – मनु ने ऐसा कहा है इस भाग में धन के विभाग का विचार विस्तृत रूप में किया गया है। याज्ञवल्क्य स्मृति की व्याख्या मिताक्षरा जीमूतवाहन का दायभाग तथा विद्यापति ठाकुर का विभाग सार आज भी प्रासङ्गिक है। वाचस्पति मिश्रकृत विवाद चिन्तामणि की अधिक प्रासङ्गिकता देखकर डा० सर झा के उक्त ग्रन्थ का अंग्रेजी अनुवाद का सम्पादन बिहार के मुख्य न्यायाधीश लक्ष्मीकान्त झा ने किया है। डा० सर झा ने प्राचीन स्मृति ग्रन्थों से लेकर उपलब्ध धर्मशास्त्रीय निबन्धों का उपयोग इस कृति में किया है। यथा मनुस्मृति आठ व्याख्याओं के साथ माण्डलिक महाशय द्वारा सम्पादित स्वयं सम्पादित इस स्मृति का मेधातिथि भाष्य जौली टर्बनल द्वारा संपादित मनुस्मृति, सेटलर महाशय द्वारा सम्पादित याज्ञवल्क्य स्मृति इसकी सुबोधिनी, बालंभट्टी, अपरार्ककृत तथा विश्वरूप कृत बालक्रीडा व्याख्याओं के साथ (मिताक्षरा व्याख्या), वीरमित्रोदय, नारद स्मृति, बृहस्पति स्मृति, आपस्तम्ब धर्मसूत्र, गौतम धर्मसूत्र, वसिष्ठ स्मृति, बौधायन धर्मसूत्र, विष्णु स्मृति, चण्डेश्वर कृत विवादरत्नाकर, नवीन वाचस्पति मिश्र कृत विवाद चिन्तामणि, स्मृति चन्द्रिका, जीमूतवाहन कृत दाय भाग, जीवानन्द विद्यासागर का सम्पादन वीरमित्रोदय, मदन पारिजात, मिसरू मिश्र का विवादचन्द्र (हस्तलेख) गोपाल न्याय पञ्चानन कृत दाय भाग तथा विद्यापति कृत विभागसार का हस्तलेख आदि ग्रन्थों का यथेच्छ उपयोग यहाँ हुआ है। अत एव इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता निःसन्दिग्ध है।

'साधोलाल लेक्चर्स औन न्याय' विषय पर प्रयाग विश्वविद्यालय ने इन से बारह व्याख्यान करवाया था, जो १९१२ ई० में इण्डियन थौट में प्रकाशित हुआ था। स्वतन्त्र पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन आज तक नहीं हुआ है।

इन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय में सर आशुतोष मुखर्जी की कन्या कमला के नाम से प्रचलित व्याख्यानमाला दर्शनशास्त्र पर फिलोसौफिकल

डिसिप्लीन नाम से दिया था जो १९२८ ई० में प्रकाशित हुआ था।

१९३२ ई० में बड़ोदा के राजा ने इनको शङ्कराचार्य तथा इनका देश के उत्थान में योगदान विषय पर भाषण माला देने के लिए आमन्त्रित किया था जो १९३३ ई० में बड़ोदा से प्रकाशित हुआ था।

डा० सर झा ने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा में कहा है कि जैसे पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेस नामक पुस्तक में पूर्वमीमांसा के पदार्थों के उद्भव विकास का क्रम प्रदर्शित है वैसे ही उत्तरमीमांसा के पदार्थों का उद्भव विकास महाराज रमेश्वर सिंह व्याख्यानमाला के क्रम में प्रदर्शित किया है। प्रयाग विश्वविद्यालय में महाराज दरभंगा श्रीमान् कामेश्वर सिंह ने कुछ द्रव्यराशि देकर ट्रस्ट किया था जो उनके पिता की स्मृति में व्याख्यानमाला आयोजित होती रहे। किन्तु इस व्याख्यानमाला का प्रकाशन हुआ या नहीं मुझे ज्ञात नहीं है। इसी महाराजा ने एक और ट्रस्ट कुछ रुपया देकर किया था कि मिथिलेश महेश रमेश व्याख्यानमाला आयोजित होती रहे। इस व्याख्यानमाला का शुभारंभ १९३९ ई० में डा० सर झा के ही तीन भाषणों से हुआ था। भाषणों का शीर्षक निम्ननिर्दिष्ट है – संस्कृत में दर्शनशास्त्रम्, हिन्दी में प्राचीन शिक्षा विधान और इन दोनों का सारांश मैथिली में।

राज दरभंगा में जब ये पुस्तकालयाध्यक्ष थे, तब छान्दोग्य उपनिषद के शाङ्कर भाष्य का अंग्रेजी में अनुवाद करने का आग्रह मद्रास विश्वविद्यालय के भाइस चान्सलर शेषाचारी ने किया था। इसका पहला संस्करण १८९९ ई० में आ दूसरा संस्करण १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ था।

जब राय बहादुर श्रीश चन्द्र वसु ने सेक्रेड बुक औफ हिन्दू का प्रकाशन आरम्भ किया तो डा० सर झा को मीमांसा विषयक भाग लिखने का आग्रह किया। इन्होंने आरम्भ से तीन अध्यायों का अंग्रेजी अनुवाद तथा अंग्रेजी में अपनी व्याख्या का प्रणयन कर पाणिनि औफिस, इलाहाबाद से उसका प्रकाशन उनके लिए करबाया। शेष अध्यायों का (४ से १२ अध्यायों का) लेखन अस्वास्थ्य के कारण नहीं कर पाये, इसका इनको कष्ट था। अपनी संक्षिप्त आत्मकथा में इसकी चर्चा इन्होंने स्वयं की है।

जब मैं भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान शिमला का नियोग पाकर हिन्दी में मीमांसा सूत्रों का विशद एवं विस्तृत व्याख्यात्मक अनुवाद कर रहा था उस समय डा० सर झा के उक्त ग्रन्थ का भरपूर उपयोग किया था।

न्यायकन्दली व्याख्या सहित प्रशस्तपादभाष्य का अंग्रेजी में इनका किया हुआ अनुवाद १९१६ ई० में पण्डित पत्रिका में प्रकाशित हुआ। डा० सर झा के गुरु प्रो० थीबो साहब ने जब भारतीय दर्शन के विश्वकोश की योजना बनायी थी तो परस्पर विचार हुआ था कि विभिन्न दर्शनों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद किया जाए। इस क्रम में खण्डनखण्डखाद्य, न्यायसूत्र तथा न्यायवार्त्तिक का अनुवाद डा० सर झा ने किया। इसी क्रम में तर्कभाषा तथा काव्यालङ्कार सूत्रवृत्तिका अनुवाद भी इन्होंने किया, जो इण्डियन थौट पत्रिका में प्रकाशित हुए।

१९२० ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय के अनुरोध पर इन्होंने मनुस्मृति तथा इसकी मेधातिथि कृत भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद और पाठभेद सम्बन्धी, तुलनात्मक तथा व्याख्यात्मक टिप्पणी तीन भागों में १९२० ई० में इन्होंने प्रकाशित किया। इस भाष्य के साथ मनुस्मृति का (मूल संस्कृत का) एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से पहले ही प्रकाशित हुआ था।

बड़ोदा राजा के आग्रह से इन्होंने संपूर्ण मीमांसादर्शन के शाबरभाष्य का अंग्रेजी अनुवाद तथा बौद्धदर्शन के प्रौढ़ ग्रन्थ तत्त्वसंग्रह का अंग्रेजी अनुवाद किया, जो यथाक्रम तीन एवं दो भागों में १९३३, १९३८ एवं ३९ ई० में प्रकाशित हुआ। यहीँ से नवीन वाचस्पति मिश्र कृत विवाद चिन्तामणि का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

डा० सर झा का आत्मचिन्तन, प्रार्थना तथा भक्तिमूलक तीन मैथिली कविताएँ

साम्ब सदाशिव करुणा सागर कखन हरब दुख मोर।
बालकपन मोर सुखहि में बीतल दुःखक नहि भेल भान।
माता लालित पितृ प्रतिपालित भ्राता प्रीतिनिधान।।

पाठावस्था दुख नहि जानल गुरुजन वत्सल पाय।
मित्र अनुत्तम सज्जन मण्डल अनुखन सत्संग धाय।।

यौवन गृहभर शिर पर आएल नूतनता सुख धाम।
किछु दिन तत्पर सुखहि बिताओल नित अनुराग ललाम।।

सुखक अनन्तर दुख हो सत्ये सञ्चारी विधिवाम।
प्रतिपद भेद खेद चित चञ्चल दुर्बलता परिणाम।।

दुखक अनन्तर सुख सञ्चर हो शास्त्र सिद्ध प्राचीन।
पत्नी पुत्र पुत्रिका स्नेहक आशा परम प्रवीन।।

मातु पिता भ्राता चरणाम्बुज हृदय लगाओल माथ।
भक्ति प्रेम विह्वलता वत्सल गाबथि गङ्गानाथ।।

(प्रयाग ३ अगस्त १९२१ ई०)

कभी अपने बृहत् परिवार में किसी कारणवश कलह उपस्थित होने पर आपसी सौमनस्य हेतु डा० सर झा ने इस पद्य में भगवती कुलदेवी से प्रार्थना की है –

अहँक शरण हम घएलहुँ कखन छुटत मोर खेद
अब न सहल मोर जाइछ अनुछन चित्तक भेद।

कोन परि शान्त होएत घर संयम शीलागार
सभक परस्पर चितमे दृढ़ विश्वास पसार।

पूर्व करम फल थिक मोर जनइत छी हम सिद्ध
तकरो अन्त होएब थिक शास्त्रयुक्ति परसिद्ध।

अन्त रहित कर्मक फल कतहु सुनल नहि कान
आशा एक तकरे अछि माय करति मोर त्राण।

पैर धएल दुहु हाथहिं पैरहि टेकल माथ
त्राहि त्राहि निज प्रियसुत खेदित गंगानाथ।

(यह पद्य ३।९।१९१९ ई. में वाराणसी में लिखा गया है।)

आपकी शरण में आया हूँ मेरा कष्ट कब दूर होगा। अनुक्षण चित्त खिन्न रहने से कष्ट सहा नहीं जाता है। मेरा संयम शीलागार यह घर कैसे शान्त होगा परिवार के सभी सदस्यों के मन में दृढ़तापूर्वक पारस्परिक विश्वास का प्रसार कब होगा। मैं जानता हूँ कि मेरे पूर्वजन्म में किये गये कर्मों का यह फल है शास्त्रयुक्ति के अनुसार इसका अन्त कभी अवश्य होगा।

प्राक्तन कर्मों के फल का अन्त कभी न कभी अवश्य होता है। इसी की आशा है। माँ मेरी रक्षा अवश्य करेंगी। दोनों हाथों से आपके चरण युगल का स्पर्श कर वहीं चरणों में माथा टेक दिया है। हे माँ! अपने पुत्र की रक्षा करो खिन्न गंगानाथ प्रार्थना कर रहा है।

एक और पद्य है जिसमें भगवती कुलदेवी से डा० सर झा ने अपनी मुक्ति की प्रार्थना की है। मुक्ति के लिए पुण्य और पाप का सर्वथा क्षय होना आवश्यक है। अन्यथा शुभकर्म के रहने पर सुख और अशुभ कर्म के रहने पर दुःख का भोग अवश्य होता है। अत एव डा० सर झा ने यहाँ प्रार्थना की है कि आप सर्वगुण सम्पन्न हैं, मेरा भी सुख तथा दुःख को बराबर कर दीजिए, जिससे मुझे अपवर्ग प्राप्त हो सके।

सभ गुण संपन जँ समतूल हमरहु सुख दुःख कए दिअ तूल, इस पद युगल से यही व्यक्त होता है। सम्पूर्ण पद्य इस प्रकार है।

त्रिगुणमयी देवि त्रिगुणातीत।
जँओ अँह निर्गुण हम गुणहीन
तँओ अपन जानि करु निजलीन।

सतगुण अधिक अहँक जँओपूर
हमर हृदय तम कए दिअ दूर।

अहँक रजक यदि अछि बहु अंश
हमर जड़त्वक करु विध्वंस।

तम जँओ कदाचित् होअए प्रधान
पापक आवरण करिय निदान।

सभ गुण संपन जँओ समतूल
हमरहु सुख दुख कए दिअ तूल।

देविपद अर्पित कए निज माथ
भनथि भगति मन गङ्गानाथ।

डा० सर झा के साक्षात् भागिनेय आचार्य रमानाथ झा के सम्पादित प्राचीन गीत (मैथिली) से साभार उल्लिखित प्रथम पद्य और डा० सर झा के पौत्र स्व० हरिनाथ झा (पुण्यश्लोक विभूतिनाथ झा के पुत्र) के नोटबुक में संगृहीत द्वितीय तथा तृतीय पद्य उन्हीं के परिवार के चि० श्री अमल कुमार झा एम.ए. के सौजन्य से मुझे उपलब्ध हुआ।

प्राचीन गीत में आचार्य रमानाथ झा ने इसका प्रकाशन किया है। आचार्य रमानाथ ने इसकी टिप्पणी में लिखा है कि इनकी लिखी हुई तीन गीति मात्र उनको उपलब्ध हो सकी थी। इस गीति का प्रणयन उन्होंने तब किया था जब वे कुलपति नहीं हुए थे। इन्होंने अपने जीवन पर दृष्टिपात करते हुए जीवन के साफल्य वैफल्य का लेखा जोखा प्रस्तुत किया है तथा भविष्य को अम्बा सहित सदाशिव के चरणों में अर्पित किया है। प्रतिपद भेद इत्यादि से उस समय के सहकर्मी तथा शासक के साथ मतभेदजन्य विह्वलता ध्वनित होती है। माता पिता भ्राता प्रभृति की भक्ति एवं कृतज्ञता तथा पत्नी एवं मित्रों के प्रति प्रेम, पुत्र तथा पुत्री आदि सन्तति के प्रति वात्सल्य ध्वनित होता है। वस्तुतः भ्रातृप्रेम इनका असाधारण था। आचार्य रमानाथ झा ने इतनी टिप्पणी के पश्चात् उपसंहार में कहते हैं कि ऐसी वैयक्तिक भावना से ओतप्रोत अन्तर्मुखी गीति मैथिली में विरल है।

इसके अतिरिक्त इनका किया हुआ अनेकों उपादेय ग्रन्थों का सम्पादन प्रकाशित है, जो यहाँ परिशिष्ट में इनके प्रकाशित पुस्तकसूची में उपलब्ध होगा। यद्यपि डा० सर झा ने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा के उपसंहार में स्वसम्पादित ग्रन्थों की संख्या पन्द्रह (१५) बतायी है किन्तु मुझे इससे अधिक सम्पादित ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

यद्यपि डा० सर झा की मौलिक कृति, अनुवाद, सम्पादन तथा व्याख्या प्रणयन आदि पचास संख्या से अधिक प्रकाशित एवं उपलब्ध हैं तथापि

उनके नोटबुक में (जो मुझे उपलब्ध हुआ था, जो दुर्भाग्य से भुला गया) उल्लिखित दो अनुसन्धान विषयक योजना का कार्यान्वयन हेतु नोट तथा परितोष मिश्र कृत तन्त्रवार्त्तिकव्याख्या अजिता का हस्तलेख संग्रह सम्पादनार्थ किया था। लगता है कि वार्धक्य या अस्वास्थ्यवश इन कार्यों को वे कर नहीं सके।

(१) याज्ञिक और मीमांसक के मध्य कर्मकाण्ड में मतभेद रहा है। प्राचीनकाल में ब्राह्मण ग्रन्थों में उक्त विधि विधान अपने अभिमत धर्मसूत्र के निर्देशानुसार समाज का शिक्षित वर्ग वंशपरम्परा या गुरुपरम्परा से करते कराते रहे। वे वैदिक कर्मकाण्ड में याग, होम, दान तथा उत्सर्ग आदि में तत्पर रहा करते थे। पश्चात् काल के प्रभाव से अथवा अन्य किसी कारण से क्रमशः परिवर्तन होने लगा। कर्मकाण्ड के प्रति अनादर भाव के उदय से कर्मकाण्ड में (याग होम आदि में) ह्रास होने लगा। कर्मकाण्ड के प्रति लोगों का विश्वास उठने लगा। अभिज्ञव्यक्तियों में भी परस्पर विवाद होने लगा। इस विवाद के निराकरण हेतु तथा याग एवं होम आदि में प्रमाद आदि दोषों से रहित निःसन्दिग्ध प्रवृत्ति हेतु सुव्यवस्थित एवं प्रामाणिक उपाय के अन्वेषण में समाज के सुधीजन चिन्ता करने लगे। उसी का परिणाम हुआ पूर्वमीमांसा शास्त्र का आविर्भाव। इस शास्त्र ने वैदिक वाक्यों के तात्पर्य निर्धारिक प्रक्रिया प्रस्तुत किया। अत एव महर्षि जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों की रचना के समय में दशाधिक ऋषियों का नाम एवं विचार उल्लिखित किया है। उस समय में उन ऋषियों का विचार वैदिक वाक्यों के अर्थ निर्धारण में मान्य तथा उपयोगी था। इस मीमांसा के सूत्र तथा भाष्य आदि के अनुसार मीमांसक वृन्द याग, होम तथा दान आदि कर्मकाण्ड में प्रवृत्त हुए तथा समाज को प्रवृत्त कराया। किन्तु बहुत स्थलों में मीमांसक एवं परम्परानुसारी याज्ञिकों में कर्मकाण्ड के विषय में मतभेद देखा जाने लगा। इसका उल्लेख शास्त्रों में मिलता है। याज्ञिकगण अपनी परम्परा से याग आदि का अनुष्ठान करते कराते रहे और मीमांसक वृन्द शास्त्र निर्दिष्ट वाक्य का अपनी प्रक्रिया से अर्थ निर्धारण करके अनुष्ठान में प्रवृत्त होते रहे। अतः परस्पर वैमत्य होना स्वाभाविक है। प्रतीत होता है कि उस वैमत्य का संग्रह कर प्रमाण एवं तर्क से विचार करने पर किसी एक पक्ष का औचित्य निर्धारण करना डा० सर झा

का अभिप्रेत रहा हो।

(२) इसी तरह यज्ञोपवीत के उद्भव एवं क्रम विकास के अनुसन्धान – आलोचन की ओर डा० सर झा की दृष्टि रही होगी। त्रैवर्णिक द्विज के लिए (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए) भिन्न भिन्न उपकरण (वस्तु) से सूत बनाकर यज्ञोपवीत का निर्माण शास्त्र विहित है। इस प्रसंग में वेदानुमत प्रामाणिक विशद एवं विस्तृत विवेचन की इच्छा इनकी रही होगी।

(३) अजिता तन्त्रवार्त्तिक की परितोष मिश्र कृत व्याख्या है। मेरी धारणा है कि परितोष मिश्र मैथिल थे और शालग्रामी नदी (बूढ़ी गण्डक नदी) के तट पर इनका आवास था। व्याख्या के अन्त में इन्होंने लिखा है कि अजिता (शालग्रामी – बूढ़ी गण्डक) नदी के तट पर वास करने वाला मैं उसी नदी का जलपान करके तथा अन्य प्रकार से भी उस जल के व्यवहार से पापों का नाश करके इस व्याख्या का प्रणयन किया। अत एव यह अजिता नाम से ही प्रसिद्ध हो –

अजितातटमधिवसता तज्जलसेवाविधूतपापेन।
टीकेयमारचिता तस्मादजितैव नाम्नास्तु।।

डा० सर झा ने इस व्याख्या का हस्तलेख ओरिएण्टल लाइब्रेरी चेन्नई (मद्रास) से मंगवाया था किन्तु बार्धक्य या अस्वास्थ्य वश किसी कारण से उसका स्वयं सम्पादन नहीं कर सके। पश्चात् भण्डारकर प्राच्यविद्याशोध संस्थान पूना, त्रिवेन्द्रम विश्वविद्यालय हस्तलेखागार तथा सरस्वतीभवन पुस्तकालय वाराणसी से हस्तलेखों का संग्रह कर इनके नाम से स्थापित शोध संस्थान (गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ) इलाहाबाद से बीसवाँ शताब्दी के अन्तिम चरण में दो अध्यायों का सम्पादन प्रकाशन हुआ। अन्तिम (तृतीयाध्याय) भाग लगभग २०–२२ वर्षों से सम्पादित होकर भी प्रकाशन की प्रतीक्षा में उसी विद्यापीठ में विद्यमान है।

डा० सर झा के उक्त नोटबुक के अनेक पन्नों में पाश्चात्य दार्शनिक हक्सले का सिद्धान्त संकलित हैं। समुद्रपथ से विदेश यात्रा के पक्ष में युक्ति तथा शास्त्रीय प्रमाणों का संग्रह है। पूर्वजों की क्षय तिथि अपनी सन्तति की राशि नक्षत्र, नाम तथा जन्मतिथि अंकित है। अनेक रोगों की मुल्तानी एवं आयुर्वेदिक

रोग विनाशक तथा बल पुष्टि कारक औषधियाँ बनाने की प्रक्रिया नाम निर्देश के साथ उक्त है। इस नोटबुक के मुख पृष्ठ पर दो विलक्षण पद्य लिखे हुए हैं –

कर्मफलेभ्यो भीतः विह्वलतां मास्म गमः पार्थ।
स्थित्वा वीरवदेकः प्रहारमेषां सहस्व सोत्साहम्।।

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यद् वर्णितम्
स्तुत्याऽनिर्वचनीयताखिलगुरो दूरीकृता यन्मया।
व्यापित्वं च विनाशितं तव विभो यत्तीर्थयात्रादिना
क्षन्तव्यं जगदीश मे तदखिलं दोषत्रयं यत्कृतम्।।

अभिप्राय यह है कि कृतकर्म का फल भोगते समय भयभीत होकर विह्वल नहीं होना चाहिए। वीर की तरह अकेले उसका प्रहार सहने के लिए तैयार रहना चाहिए।

दूसरे पद्य का अर्थ यह है – भक्त परमात्मा से प्रार्थना करता है कि निराकार, वचन के अगोचर (अविषय) तथा व्यापक आपको हम ध्यान से साकार करता हूँ, स्तुति से निर्वचन कर आपकी अनिर्वचनीयता को भंग करता हूँ तथा तीर्थयात्रा करके सर्वत्र विद्यमान आपको तीर्थ में ढूँढ़ता हुआ आपकी व्यापकता का विनाश करता हूँ। हे जगदीश! प्रभो!! मेरी इन तीनों ही अपराधों को क्षमा करना।

डा० सर झा जैसे भारतीय विद्या के साधक उपासक के लिए इष्ट तथा पूर्त कर्म में विश्वास होना स्वाभाविक है। २२ जून १९२२ ई० में गाँव में मन्दिर निर्माण कर चातुश्चरण याग करके अपने पिता के नाम पर तीर्थ रामेश्वर नामक शिवलिङ्ग की स्थापना की। इस याग में मिथिला के चार शास्त्र निष्णात विद्वान् म०म० रजे मिश्र प्रसिद्ध राजनाथ मिश्र, म०म० जयदेव मिश्र, म०म० परमेश्वर झा तथा म०म० शशिनाथ झा उपस्थित थे। इस अवसर पर इन्होंने स्वयं चार पद्यों में अपने माता पिता तथा अग्रज सोदर का उल्लेख किया है।

पालीश्रोत्रियवंशभूषामणिः सत्कर्मचूडामणिः।
गायत्री चरणाम्बुजप्रणयधृक् श्रीतीर्थनाथोऽभवत्।।१।।

श्रीमन्मैथिलभूमहेन्द्रतनयश्रीवासुदेवात्मजा ।
पत्नी तस्य कुलद्वये शुभकरी श्रीरामकाशीपरा।।२।।

ज्येष्ठस्तत्तनयः सदा शिवरतः श्री विन्ध्यनाथः सुधीः।
तत्पश्चात् गणनाथ नामक इह श्रीतारिणीतत्परः।।३।।

गङ्गानाथ इति स्वताতজননীभक्तस्तदीयानुजः।
तेनास्थाप्यत वेदवेदविधिना श्रीतीर्थरामेश्वरः।।

प्रसिद्ध पाली मूलक श्रोत्रियवंश के अलङ्कार के मणि श्री तीर्थनाथ झा सत्कर्म करने वालों के मध्य चूड़ामणि स्वरूप थे तथा गायत्री के चरण कमल का सेवक थे।

मैथिल महाराज के बालक कुमार वासुदेव सिंह की कन्या इनकी पत्नी रामकाशी देवी दोनों कुलों के लिए (मैका तथा ससुराल के लिए) शुभकरी थी। काशी के रामघाट में इनका जन्म होने से पिता ने इनका नाम रामकाशी रक्खा था। महाराज कुमार बाबू वासुदेव सिंह रामघाट में ही अधिक समय रहा करते थे – ऐसी जनश्रुति है। इनका प्रथम (ज्येष्ठ) पुत्र पण्डित विन्ध्यनाथ झा सदैव शिवभक्त हुए। इनके अनुज गणनाथ झा भगवती तारा के सेवक हुए। गङ्गानाथ (मैं) इन दोनों का अनुज माता पिता का भक्त इस तीर्थ रामेश्वर की स्थापना चातुश्चरण याग करके किया।

इनका अनेक पूर्त कर्म हम लोगों का दृष्ट है। जैसे घर के निकट मनीगाछी रेलवे स्टेशन के पास इनकी पत्नी इन्दुमती देवी के नाम से इन्होंने धर्मशाला बनवाया। इलाहाबाद के दारागञ्ज रेलवे स्टेशन के पास भी इन्दुमती धर्मशाला बनवाया। कर्नलगञ्ज में आनन्दभवन से उत्तर भारद्वाज आश्रम की विपरीत दिशा में इन्दुमती धर्मशाला बनवाया, जो आजकल व्यायामशाला के रूप में विद्यमान है। इलाहाबाद के सेन्ट अन्थोनी हायर सेकेण्डरी स्कूल के दाहिनेभाग में इनका निर्मित पशुनिपानशाला आज भी विद्यमान है।

इनकी धर्मपत्नी की इन्दुमती देवी ने १९२७ ई० में अपने मैके में (शारदापुर गाँव में) भगवती शारदा का मन्दिर बनवाया। जहाँ शिलालेख है –

शारदापुरवास्तव्यः शकराढ़ीकुलोद्भवः।
धर्मे शब्दे च योगे च निष्णातो ग्रन्थकृत् सुधीः।।

श्रीहर्षनाथशर्माभूत् बलभद्रसहोदरः।
तस्यात्मजा शुभ्रशीला कुलद्वययशस्करी।।

तीर्थनाथतनूजस्य पाहीटोलनिवासिनः।
पालीवंशावतंसस्य गङ्गानाथस्य धीमतः।।

पत्नी श्रीन्दुमती देवी दशभिस्तनयैर्युता।
सैव व्यरचयद् भक्त्या शारदायाश्च मन्दिरम्।।

वेदवसुरत्नचन्द्रमिते (१९८४) वैक्रमसंज्ञके।
संवत्सरे कार्यमेतत् पूर्णं देवीप्रसादतः।।

शारदापुर गाम के सकराढ़ीमूलक हर्षनाथ झा धर्मशास्त्र, व्याकरण तथा योगशास्त्र में निष्णात तथा ग्रन्थों के लेखक थे। इनके सोदर छोटे भाइ बलभद्र झा थे। इनकी कन्या अवदातशीलसम्पन्ना मैका और ससुराल दोनों कुलों के यश को बढ़ाने वाली है। यह महिला पाहीटोल निवासी तीर्थनाथ झा के पुत्र पण्डित गङ्गानाथ झा की पत्नी हैं, इनका नाम इन्दुमती देवी है, इनकी दश सन्ततियाँ हैं, इन्होंने ही भक्ति पूर्वक इस शारदा मन्दिर का निर्माण १९८४ विक्रम संवत्सर में तदनुसार १९२७ ई० में करवाया।

पुण्य के साधन रूप में शास्त्र में मान्य इष्ट और पूर्त कर्म की ओर डा० सर झा का ध्यान सदैव रहा करता था। अर्जित धन का उपयोग इन्होंने दान, लोककल्याणकारी कार्य, यज्ञ तथा उपभोग में किया। देवता के प्रति इनकी श्रद्धा सदैव विद्यमान थी, इसका स्थाली पुलाक न्याय से एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। इनके मित्र दरभंगा राज के पट्टीदार बाबू जनेश्वर सिंह प्रसिद्ध श्रीनन्दन जी द्वारा देवीपुर गाँव में आयोजित किसी याग में श्रद्धापूर्वक भाग लेकर उस याग का परमेश्वर शिवरूप में पद्यबद्ध वर्णन इस प्रकार किया है।

ज्वालामयाच्च वपुषो निज भक्त लोक-
रक्षां विधातुमिह कुण्डगतः पृथिव्याम्।

धूमेन वह्निशिखया प्रभया च शम्भो
त्रैगुण्यमेव परमं प्रकटी करोषि।।१।।

वह्निस्थ एव भजतां शमयस्यजस्रं
संसारचक्रजनिताखिलतापजालम्।
स्थाणुस्त्वमेव सुतरां च चिदात्मकोऽसि
को वेद देव भवतोऽत्र विचित्रवृत्तम्।।२।।

अग्निर्यतो जगति देवतया समक्षं
विद्योतते न खलु तत्र विवादलेशः।
भक्तानुकम्पनमतो हि विधातुकाम-
स्तस्यैकरूपमुररीकुरुतेऽत्र शम्भुः।।३।।

भक्तार्पितानि विपुलानि हवींषि देव!
पापघ्नतण्डुलघृतैर्विहितानि शम्भो।
गृह्णासि हृष्टमनसेति विभावयामि
शान्तप्रशान्तिजनकैश्च प्रभावितानैः।।४।।

मुख्ये जुहोति वदने परयात्र भक्त्या
श्रीमान् जनेश्वर इहैव च मिश्रवर्यः।
रक्षे गणेश सदृशो गणनाथ नामा
गौरीधरः शिवपरः सुरनिम्नगेशः।।५।।

गङ्गाधरो वीरवरः प्रतीच्यां रामाभिधो हर्षपतिश्च वामे।
नारायणो लक्ष्मिपुरस्सरश्च ऊर्ध्वे च वक्त्रे मिथिलाश्च सर्वे।।६।।

कृताकृतावेक्षणकर्मकर्ता शिवेश्वरो बुद्धिमतां वरिष्ठः।
साहाय्यकर्ता किल नृत्यगीतैर्विनोदशाली बबुनन्दनोऽस्य।।७।।

अपने भक्तवृन्दों की रक्षा करने के लिए हे शंभो! आप ने धरती पर यज्ञकुण्डगत अग्नि का स्वरूप धारण किया है। इस ज्वालामय शरीर में धूम, आग की शिखा तथा प्रभा जो विराजमान हैं, वह आपके त्रैगुण्य का (तमस्, रजस् तथा सत्त्व गुण का) प्रकाशन करता है। अग्नि में रहकर भी आप अपने सेवक वृन्द के सांसारिक दुःख जाल का शमन करते हो। आपकी

विलक्षणता को कौन जान सकता है। यद्यपि आपका नाम ठूँठ (स्थाणु) है तथापि आप ज्ञान स्वरूप हो – इसमें कोई विवाद नहीं है। आप हम लोगों के समक्ष अग्निदेवताके रूप में विद्यमान हो। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए परमेश्वर शिव की अष्ट मूर्तियों में एक अग्निमूर्ति भी मान्य है। शिव की अष्टमूर्ति का वर्णन कविकुल गुरु कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के नान्दी में विद्यमान है। पार्थिव शिवलिङ्ग की पूजा क्रम में रुद्रायाग्निमूर्तये नमः कहकर हम लोग उनका आवाहन करते हैं। भक्त द्वारा याग में अर्पित पापनाशक चावल तथा घृत रूप पर्याप्त हविष आप प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करते हो – यह हमलोग आपके शान्तिजनक शान्तप्रभा के विस्तार से समझते हैं।

प्रधानरूप से उत्कृष्ट भक्त श्रीनन्दन प्रसिद्ध जनेश्वर सिंह तथा श्रीनाथ मिश्र अग्नि के मुख में हवन करते हैं। गणेश देव के समान गणनाथ झा यज्ञ की रक्षा कर रहे हैं। गौरीधर झा तथा शिवभक्त सुरनिम्नगेश अर्थात् गंगानाथ झा, गङ्गाधर झा, वीरवर अर्थात् महावीर झा यज्ञ की पश्चिम दिशा की ओर है। राम झा तथा हर्षनाथ झा उत्तर भाग में हैं, लक्ष्मीनारायण झा आदि कुण्ड के पूर्वभाग में विद्यमान थे। श्रेष्ठ बुद्धिमान् शिवेश्वर झा इस यज्ञ के ब्रह्मा के रूप में विद्यमान थे। बबुनन्दन झा यज्ञ में गायन एवं नृत्त्य आदि का आयोजन कर लोकरञ्जन में लगे हुए थे।

हस्तलेख सम्पादन के क्रम में एक दिन चिरकालिक जिज्ञासा का उत्तर प्राप्त कर डा० सर झा बहुत प्रसन्न हुए थे। कर्मकाण्ड का एक छोटा सा विषय इनकी अन्तश्चेतना में बहुत दिनों से विद्यमान था। इनके मातामह महाराज कुमार बाबू वासुदेव सिंह को काशी में पण्डित सभा कराने पर भी जिस जिज्ञासा का समाधान नहीं मिला था, वह समाधान इनको हस्तलेख सम्पादन के क्रम में मिल गया। धर्मशास्त्र की पंक्ति है – **अशून्यं तु करं कुर्यात् सुवर्णरजतैः कुशैः।** इस सन्दर्भ में सम्पूर्ण पाठ मिलने पर इनको असीम आनन्द हुआ। शाक्त उपासना में तर्जनी अंगुली में चान्दी की अंगूठी आओर अनामिका में सोना की अंगूठी धारण करने का विधान है। शाक्त तन्त्र में इसी हिरण्यरजतमय अँगूठी को कुश माना गया है यहाँ कुश से प्रसिद्ध तृणमय (वन्य) कुश अभिप्रेत नहीं है।

तर्जन्यां रजतं धार्यं स्वर्णं धार्यमनामिकया।
एष एव कुशः प्रोक्तः न सामान्यकुशः कुशः।।
अशून्यं तु करं कुर्यात् सुवर्णरजतैः कुशैः।।

कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय संस्कृति में कर्मज्ञान, धर्मदर्शन, आचारविचार में दाम्पत्य की तरह समन्वय है। डा० सर झा का आचार एवं विचार में समन्वय भारतीय संस्कृति के अनुरूप एवं आदर्श स्वरूप सर्वथा अनुकरणीय है।

बृहन्नारदीय पुराण के कलिवर्ज्य प्रकरण में (२०।१२-१६।) कलियुग में समुद्रयात्रा का वर्जन (निषेध) उक्त है। डा० सर झा के अभिभावक मिथिलेश महाराजा लक्ष्मीश्वर सिंह अपने कठिन रोग के निवारण हेतु चिकित्सार्थ विलायत जाने का प्रचुर उपक्रम किया था किन्तु जा नहीं सके। उनको पितृव्य (चाचा) धर्मप्राण गुणेश्वर सिंह का भय था। डा० सर झा प्रारम्भ में समुद्रमार्ग से विदेश यात्रा का समर्थक नहीं थे। उनके सुयोग्य पुत्र डा० अमरनाथ झा की उत्कट इच्छा थी विलायत जाने की किन्तु उनको पिता की अनुमति नहीं मिली थी। महाराज कामेश्वर सिंह के विवशता में विलायत जाने पर जो स्वदेशी विलायती आन्दोलन १९४० के दशक आरंभ हुआ उस समय डा० सर झा समुद्रमार्ग से विदेश यात्रा के समर्थन में लग गये। इनकी नोटबुक में समुद्रमार्ग से विदेशयात्रा के समर्थन में पचासों पत्रों में धर्मशास्त्रीय बातें लिखी हुई मिलती हैं, जो नोट बुक मेरे प्रमादवश भुला गया – मैंने पूर्व में ही इसकी चर्चा की है।

पश्चात् स्वयं डा० सर झा ने अपने कनिष्ठ पुत्र को आई.ए.एस. करने के लिए समुद्र मार्ग से विलायत भेजा। समाज में देश काल तथा पात्र के अनुसार आचार विचार में परिमार्जन परिष्कार होता रहता है। इसी से आचार विचार की सनातनता सुरक्षित होती रही है।

यो हि यदन्नो भवति तदन्नास्तस्य देवताः।
तदन्नास्तस्य पितर इत्येवं वैदिकी स्थितिः।।

यहाँ चौथे चरण में कहीं कहीं पाठभेद भी दृष्टिगोचर होता है। वह भिन्न पाठ है **एष धर्मः सनातनः।**

भारतीय संस्कृति एक देववाद में विश्वास करती हुई लोक रुचि के अनुसार शिव, राम, कृष्ण, हनुमान, काली तथा तारा आदि दश महाविद्या तथा दुर्गा आदि की आराधना पूजा करती रही है।

डा० सर झा को भारतीय विद्या पर अत्यधिक श्रद्धा थी इस पर पूर्ण विश्वास था। इसका प्रमाण उनका किया हुआ इष्ट एवं पूर्त कर्म तथा शास्त्रों में आजीवन अभ्यास की संलग्नता को माना जा सकता है। **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** का अनुपालन एवं ईश्वर की उपासना में लगे रहना इनका स्वभाव हो गया था।

प्राक्तन संस्कारवश इनको सहजबोध उपलब्ध था। डा० बाबू राम सक्सेना तथा प्रो० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय से गङ्गानाथ झा केन्द्रीय विद्यापीठ में भाषण के क्रम में मैंने सुना है कि इनको किसी ने जिज्ञासा की थी कि क्या ईश्वर को आपने देखा है। यदि नहीं देखा है तो उनको क्यों मानते हैं। इसके उत्तर में डा० सर झा ने कहा था कि भगवान (ईश्वर) का दर्शन तो नहीं हुआ है किन्तु जिस आचरण अनुष्ठान से हमारे पूर्वजों का अभ्युदय हुआ है उस आचरण अनुष्ठान का अनुपालन मैं भी करता हूँ। इससे आत्मकल्याण का दृढ़ विश्वास है मुझे। इस तरह शास्त्रों में निष्ठा तथा सहजबोध तो डा० सर झा को था ही। प्रगल्भता भी थी अतः पढ़े हुए शास्त्रों पर विश्वास था। व्याख्यान देते समय ये जो कुछ कहते थे वह निःसन्दिग्ध, युक्तियुक्त तथा निर्णयात्मक होता था। इनकी वाणी केवल गुणों का अभ्यास किये हुए थी। लोक व्यवहार में जो कुछ कहते थे वह सरल, मृदु तथा अपेक्षित रहता था। भले ही संक्षिप्त एवं सार कथन वह होता हो – इससे **मितं च सारं च वचो वाग्मिता** का परिचय मिलता है। काल के अनुरोध से यथा समय सभी कृत्यों के सम्पादन हेतु प्रवृत्त होते रहते थे। आज का कृत्य कल के भरोसे नहीं रखते थे। **का हानिः समयच्युतिः** सदैव इनकी दृष्टि पर रहता था। इनकी रचना में मौलिक अनुवाद तथा सम्पादन में बुद्धि-व्यायाम के साथ

अनुरूप एवं अनुकूल शब्दों का चयन तथा इसमें प्रतिभा की नवता दृष्टिगोचर होती थी। मालती माधव में भवभूति ने जिन कामदुघा क्रियाओं का वर्णन किया है वह डा० सर झा के स्वभाव में व्यवहार में शत प्रतिशत परिलक्षित होता है –

शास्त्रेषु निष्ठा सहजश्च बोधः
प्रागल्भ्यमभ्यस्तगुणा हि वाणी
कालानुरोधः प्रतिभानवत्व-
मेते गुणाः कामदुधाः क्रियासु।।

शास्त्र में निष्ठा, सहजबोध, प्रगल्भता, अभ्यस्तगुणा वाणी, काल का अनुरोध और प्रतिभा की नवता – ये छह गुण किसी कार्य को करने के लिए कामदुघा अर्थात् यथेच्छ सहायक होते हैं।

इतिशम्

❑❑❑

परिशिष्ट (१)

महामहोपाध्याय डाक्टर सर गङ्गानाथ झा की मौलिक कृति, व्याख्याग्रन्थ, अनुवाद तथा सम्पादित ग्रन्थों का विवरण

(क) मौलिककृति

१) प्रभाकर स्कूल औफ पूर्वमीमांसा (शोध प्रबन्ध) १९१० ई०
इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रकाशित

२) न्यायप्रकाश (न्यायशास्त्रीय पदार्थों का विशद परिचय तथा स्थान स्थान पर पाश्चत्त्य तर्कशास्त्र के साथ तुलना) नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

३) वैशेषिकदर्पण (हिन्दी, नागरी–प्रचारिणी सभा वाराणसी से प्रकाशित)

४) कविरहस्य (हिन्दी) (हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद में दिये गये व्याख्यानों का संग्रह उसी संस्था से १९२९ ई० में प्रकाशित।)

५) फिलोसौफिकल डिसीप्लीन (कमला व्याख्यानमाला) कलकत्ता विश्वविद्यालय का प्रकाशन, १९२८ ई०

६) साधोलाल लेक्चर्स औन न्याय, बारह (१२) व्याख्यान
इलाहाबाद विश्वविद्यालय में १९१२ ई० में दिये गये, जो पुस्तकाकार कहीँ से प्रकाशित नहीं हो सका। इण्डियन थौट पत्रिका में इलाहाबाद में १९१२ ई० में क्रमशः प्रकाशित हुए।

७) शङ्कराचार्य एण्ड हिज वर्क्स फौर अपलिफ्ट औफ इण्डियन
(बड़ौदा में बड़ोदा के महाराजा द्वारा आयोजित व्याख्यानमाला)
ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ोदा का प्रकाशन

८) हिन्दू लौ इन इट्स सोर्सेस (दो भागों में) कलकत्ता विश्वविद्यालय में दी गयी टैगोर व्याख्यानमाला १९१६ ई०। इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद (१९३०-३३ ई०)

९) हिन्दू विधिका मूलाधार रामदीन व्याख्यानमाला
पटना विश्वविद्यालय में दी गयी, यह प्रकाशित नहीं हुई

१०) शाङ्कर वेदान्त (अंग्रेजी)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में आयोजित मिथिलेश रमेश्वर सिंह व्याख्यानमाला। इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रकाशन १९४० ई० के दशक में।

११) वेदान्तदीपक (मैथिली)

मैथिली साहित्य परिषद्, दरभंगा का प्रकाशन १९३६ ई०

१२) पूर्वमीमांसा इन इट्स सोर्सेस

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन १९४२

१३) आरम्भिक तीन अध्यायों के मीमांसा सूत्रों की भाष्यानुसारी अंग्रेजी में व्याख्या तथा अनुवाद। पाणिनि कार्यालय, मलाका, इलाहाबाद से प्रकाशित

१४) कतिपयदिवसोद्गमप्ररोहः

प्रकाशक स्वयं डा० सर झा थे, यह डा० सर झा की पद्यरचना सीखते समय लिखी गयी ५० पद्यों का संग्रह थी। १९०० ई० से पूर्व प्रकाशित। किन्तु ५० वर्षों से अन्वेषण में लगे रहने पर भी अनुपलब्ध

१५) बेलामाहात्म्य

दरभंगा शहर के एक महल्ला में डा० झा के भाइ का आवास था. एक पत्र में पुराण की शैली में पैरोडी उस पुराण माहात्म्य कथा की थी यह, जो कही जाती है कि अमुक पुराण की है किन्तु उस पुराण में वह उपलब्ध नहीं होती। इसके प्रकाशन से डा० सर झा उस समय के पण्डित समाज से पर्याप्त अधक्षिप्त हुए थे।

(ख) भारतीय विद्या के इक्कीस आकर ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद

१-२) न्यायसूत्र एवं भाष्य

३) न्यायवार्त्तिक

४-५) प्रशस्त भाष्य एवं इसकी श्रीधराचार्यकृत कन्दलीव्याख्या

६) तर्कभाषा

७) न्यायसिद्धान्त मुक्तावली (यह कृति भुला गयी)

८) शाबरभाष्य

९) श्लोकवार्त्तिक

१०) तन्त्रवार्त्तिक

११) सांख्यतत्त्वकौमुदी

१२) योगभाष्य

१३) योगसारसंग्रह

१४) छान्दोग्य उपनिषद् का शाङ्करभाष्य

१५) खण्डनखण्डखाद्य

१६) मनुस्मृति और इसका मेधातिथिकृत भाष्य

१७) विवादचिन्तामणि

१८) काव्यप्रकाश

१९) काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति

२०-२१) तत्त्व संग्रह तथा इसकी पञ्जिका व्याख्या

(ग) चार ग्रन्थों की इनके द्वारा की गयी व्याख्या

१) प्रसन्नराघव की भावबोधिनी व्याख्या

२) शाण्डिल्यभक्तिसूत्र की पद्यबद्ध व्याख्या भावकल्लोलिनी

३) न्यायभाष्य की व्याख्या खद्योत

४) मण्डनमिश्रकृत मीमांसानुक्रमणी की व्याख्या मीमांसामण्डन

(घ) सम्पादित ग्रन्थ

१) मण्डनमिश्रकृत भावनाविवेक एवं उम्बेक कृत इसकी व्याख्या

२) पार्थसारथिमिश्र कृत तन्त्ररत्न

३) आपोदेवकृत मीमांसान्यायप्रकाश

४) कृष्णयज्वाकृत मीमांसानुक्रमणिका

५) जयन्तभट्टकृत न्यायकलिका

६) शङ्करमिश्रकृत वादिविनोद

७) म०म० गोकुलनाथउपाध्यायकृत अमृतोदय नाटक

८) योगसारसंग्रह

९) श्रीहर्षकृत खण्डनखण्डखाद्य

यह चार व्याख्याओं के साथ सम्पादित प्रकाशित है १- आनन्दपूर्ण, २- चित्सुखाचार्य, ३- शङ्करमिश्र तथा ४- रघुनाथ शिरोमणि कृत व्याख्या इसमें है। इस सम्पादन में म०म० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़ की सहभागिता है।

१०) मनुस्मृति एवं उसका मेधातिथि भाष्य

११) गोपालन्याय पञ्चानन कृत – प्रायश्चित्त कदम्ब

१२) म०म० हर्षनाथ झा कृत जलाशयोत्सर्ग पद्धति

१३) कविवर कृष्णदत्त प्रणीत – गीतगोपीपति तथा म०म० हर्षनाथ झा कृत इसकी व्याख्या – भावदीपिका

१४) शङ्कर कविकृत – कविकर्पटिका

१५) इण्डियन थौट

१६) महाकवि चन्द्र (प्रसिद्ध चन्दा) झा कृत – महेशवानी

१७) गणनाथ विन्ध्यनाथ पदावली

१८) म०म० उमापति कृत – पारिजात हरण

१९) विद्यापतिकृत – पुरुषपरीक्षा

२०) म०म० हर्षनाथ झा कृत माधवानन्द नाटक

२१) आचार्य रघूत्तम कृत न्यायभाष्यव्याख्या – भाष्यचन्द्र

१९६९ ई. में प्रकाशित गङ्गानाथ झा शोध संस्थान इलाहाबाद के रजत जयन्ती के अवसर पर स्मारिका से साभार।

यद्यपि डा० सर झा ने अपनी संक्षिप्त आत्मकथा में अपने सम्पादित पन्द्रह ग्रन्थों का उल्लेख किया है तथापि गङ्गानाथ झा शोध संस्थान से प्रकाशित इनके सारस्वत अनुष्ठान की सूची में इनके सम्पादित उपर्युक्त ग्रन्थों का उल्लेख है।

(ङ) म०म० डा० सर झा का लिखित दश निबन्ध

मेरा ज्ञात है।

१) नोट्स औन शाबर भाष्य (डा० मोदी मेमोरियल भौलुम)

२) सम रेयर वर्क्स औन वैद्यक
(डा० एस कृष्ण स्वामी आयङ्गार कमेमोरेसन भौलुम)

३) मिथिलेश रमेश व्याख्यानमाला

४) आर्यन इनवेशन औफ इण्डिया इज ए मिथ
(आचार्य डी०आर भण्डारकर पुष्पाञ्जलि) १९४० ई० कलकत्ता

५) भागवतम्

(म०म० कुप्पूस्वामी शास्त्री स्मारक ग्रन्थ, मद्रास।)

६) कुमारिल एण्ड वेदान्त

(रोयाल एसियाटिक सोसाइटी जर्नल, बम्बई)

७) रिलीजन दी नीड औफ दि प्रेजेन्ट जेनरेसन

(प्रो. के.वी. रङ्गस्वामी आयङ्गार स्मारक ग्रन्थ मद्रास १९४० ई०)

८) प्राभाकर थियोरी औफ एरर

(आचार्य डी.आर भण्डारकर पुष्पाञ्जलि, कलकत्ता १९४० ई०)

९) सोर्सेस औफ प्रोपर्टी अण्डर हिन्दू लौ

(मदन मोहन मालवीय अभिनन्दन ग्रन्थ १९३६ ई०)

१०) मिथिलाक अधोगति

(मिथिला मिहिर, मिथिलाङ्क १९३५ ई०)



परिशिष्ट (२)

डॉ. सर झा की षष्टि वर्ष पूर्ति के अवसर पर उनके मित्र, प्रशंसक तथा छात्रवृन्द द्वारा समर्पित अभिनन्दन ग्रन्थ का विवरण

डा. गंगानाथ झा पुष्पाञ्जलि

१९३२ ई. में उनकी षष्टि वर्ष पूर्ति के अवसर पर यह समर्पित हुआ था। इसका प्रकाशन पूना ओरिएण्टल सिरीज नं. ३२ में ओरिएण्टल बुक एजेन्सी, पूना ने १९३७ में किया था।

यह अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्पादक मण्डल में थे –

Dr. S. K. Belvelkar
Dr. S.N. Dasgupta
M.M. Kuppuswami Shastri
A.C. Wodner
Dr. P.K. Acharya
Dr. A. Siddiqui
Dr. R.D. Ranade
Dr. K. Chattopadhyaya

Part I Papers in Sanskrit

१. शाबरभाष्ये उदाहरणपरिपाटी – प. श्रीचिन्नस्वामिशास्त्री, वाराणसी

२. साहित्यमीमांसा – प. बदरीनाथ झा

३. उपमालङ्कारः – प. भार्गव शास्त्री जोशी, पुण्यपत्तनम्

४. वेदापौरुषेयत्वम् – महामहोपाध्याय पं. श्री माधवशास्त्री भण्डारी, लवपुरम्

५. श्री महिम्नः स्तोत्रं वेदश्च – श्री रघुवर मिठ्ठूलालशास्त्री, वेदान्ततीर्थः, काव्यतीर्थः, साहित्याचार्यः, एम.ए., एम् ओ एल, प्रयाग विश्वविद्यालय

६. अथैकोदिष्टश्राद्धाधिकार निरूपणम् – महामहोपाध्यायः प. राजनाथ मिश्रः, सौराठ (दरभङ्गा)

७. योगपदार्थविचारः – प. रविनाथ झा, मुजफ्फरपुरम्

८. आरोग्यविषयको निबन्धः – महामहोपाध्यायः प. श्री वासुदेव शास्त्री अभ्यङ्करः, पुण्यपत्तनम्

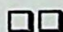
९. शब्दब्रह्मवादः – प. श्रीहाराणचन्द्रभट्टाचार्य शास्त्री – काशीस्थ राजकीय संस्कृत महाविद्यालयाध्यापकः।

Part II Papers in English

1. The Measures of Gods - Dr. P.K. Acharya
2. Contribution of India to Arabic literature during the pre-Ghaznawid period - Dr. M.G. Zubaid Ahmad
3. The Narayaniya in Tamil Literature - D.B.
   Dr. S. Krishna Swami Ajyangar
4. A Marsiya writer of the Lucknow school of poetry - S.M. Zamin Ali Esq.
5. Dandakaranya - Dr. D. R. Bhandarkar
6. Manju Ghosa - Dr. B. Bhattacharya
7. Space Time and Brahma - U.C. Bhattacharjee
8. Catuskoti - M.M. Pt. Vidhushekhara Bhattacharya
9. Philosophy of the Tantras - Late Dr. P.C. Chakravarti
10. Two Inscriptions from Kosambi - Gauri Shankar Chatterji
11. References to buddhist philosophy in the vrttikara granth of Sabar Bhasya - K. Chattopadhyay
12. The Naksatras or the Constellations in Jaina Astronomy - Dr. Sukumar Ranjan Das

13. A Reference to the Mahanataka - Dr. S.K. De.
14. Are the Samkhya and the Nyaya - Vaisesika Realistic? Dr. A. B. Dhruva
15. The Situation of Ravana's Lanka - late R.B. Dr. Hiralal
16. A Esthetic Satkaryavada - K.A. Subrahmania Iyer
17. Some Urdu Lyrics of To-Day - Amaranatha Jha
18. The Religious Aspect of the Sea - Voyage - Rama Bhadra Jha
19. The Marriageable Age of Girls in Ancient India - P.V. Kane
20. New Theories as to Brahman - Dr. A.B. Keith
21. Medha and Mazda - Dr. Stenkonow
22. The Date of Tivaradeva - V.V. Mirashi
23. Deogarh in Mediaeval times - Dr. M. Vahid Mirza
24. Maha Mahopadhyaya Chandra - Dr. Umesh Mishra
25. An Iranian prinees of the parthian Dynasty as the first promulgator of Buddhism in China - Late Dr. Sir J.J. Mod
26. Gotama on the problem of Validity - Ankul Chandra Mukerji
27. Yajnavalkya and the philosophy of fictions - R.D. Ranade
28. Henry lord and his Discoveric of the Benians - Dr. H.N. Ranade
29. The avran on Ninrod's fire - M. Naimur Rahnan
30. The Tuhfatu'l hind - Syed Masud Hasan Rizavi
31. Fanciful Etymologies in the Dhammapada - Dr. Babu Ram Saksena
32. Some Disputed Dates in Rajpur History - Sir Yadunath Sarkar

33. Maya in Sankar Vedanta : Its objectivity - Koklieshvar Sastri
34. The Hymns of Sir Willian Jones - P.Seshadri
35. The Concept of Mukh in Indian Philosophy - Dr. R. Shama Sastri.
36. Some unknown Sanskrit poets of Mithala - Dr. Hardutt Sharma
37. Indian words in the Humayan Nama - Dr. A. Siddiqui
38. Mithila - late R.B. Lala Sita Ram
39. Notes On the Trikaya Doctrine - Dr. O. Stein
40. Date of Skandasvami - Dr. Laxman Sarup
41. Parasmaipada and Atmanepada - Dr. I.J.S. Tara Pore wala
42. Hemantasisirau and Ahoratre - Dr. P. Thieme
43. Ottorokorrha - Dr. F.W. Thomas
44. Evolution of the Myth of Ahalya Maitreyi - Dr. Dhirendra Verma
45. Syntax of the Dative case in the Rigveda - Dr. Siddheswar Verma
46. Self and Non-Self in early Bhuddhism - late Dr. M. Winter Nitz.



Māyā in Śaṅkar Vedanta : Its objectivity - Kokileswar Sastri 33.

The Heroes of Sir William Jones - [illegible] 34.

The Concept of Moksa in Indian Philosophy - Dr. R. Sharma Sastry 35.

Some unknown Sanskrit poems of Mithila - Dr. [illegible] Sharma 36.

Indian words in the Homeric Epics - Dr. [illegible] Siddiqui 37.

Mithila - late P. B. [illegible] 38.

Notes On the [illegible] - late G. [illegible] 39.

Date of [illegible] - Dr. Laxman Sarup 40.

[illegible] and [illegible] - Dr. [illegible] 41.

[illegible] and [illegible] - Dr. P. Thieme 42.

[illegible] - Dr. F.W. Thomas 43.

Evolution of the [illegible] of Ahalya [illegible] - Dr. [illegible] Verma 44.

[illegible] of the Difference in the Rg veda - Dr. Siddheswar Varma 45.

Self and Non-Self in early Buddhism - late Dr. M. Winternitz 46.

□□□





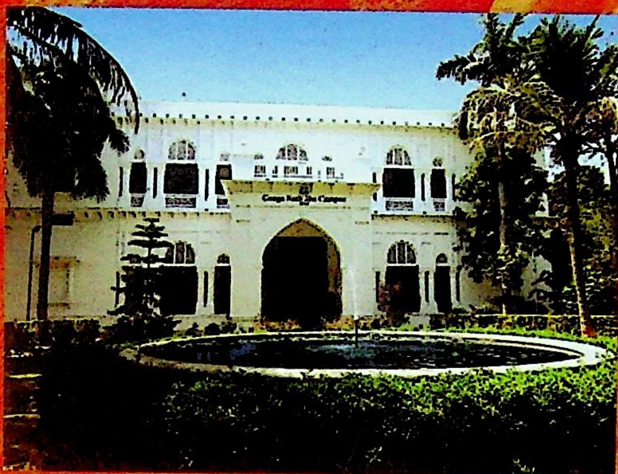
राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

गङ्गानाथझापरिसरः

चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्,

प्रयागः - 211002





राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

गङ्गानाथझापरिसरः

चन्द्रशेखर-आजादोद्यानम्

प्रयागः - 211002